

एम. ए. (हिन्दी) पूर्वार्द्ध

सेमेस्टर-I

प्रश्नपत्र 104 : हिन्दी कथा-साहित्य

अध्ययन सामग्री : 1 (क-ख)



मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

हिन्दी-विभाग

प्रश्नपत्र 104 : हिन्दी कथा-साहित्य अनुक्रम

(क) उपन्यास

इकाई-1	: गोदान	: प्रेमचन्द	-(स्व.) डॉ. हरदयाल
इकाई-2	: मैला आँचल	: फणीश्वरनाथ रेणु	-डॉ. सुरेन्द्रनाथ तिवारी

(ख) कहानी

इकाई-3	: उसने कहा था	: चंद्रधर शर्मा गुलेरी	-डॉ. रमेश उपाध्याय
	: कफ़न	: प्रेमचन्द	-डॉ. मीरा सीकरी
	: जिन्दगी और जोंक	: अमरकांत	-डॉ. अजय तिवारी
इकाई-4	: चीफ़ की दावत	: भीष्म साहनी	-डॉ. शुभलक्ष्मी वत्स
	: तीसरी कसम	: रेणु	-डॉ. शशि
	: वापसी	: उषा प्रियंवदा	-डॉ. वीनू भल्ला
	: परिंदे	: निर्मल वर्मा	-डॉ. प्रमिला मलिक



मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय
5 कैवलरी लेन, दिल्ली-110007

समेस्टर-I

2019

प्रतियाँ

मुक्त शिक्षा विद्यालय

ओ.एस.डी., मुक्त शिक्षा विद्यालय, 5 कैलेवरी लेन, दिल्ली-110007 द्वारा प्रकाशित एवं
ऐजुकेशनल स्टोर्स, एस-5 बुलंदशहर रोड़ इंडिस्ट्रियल एरिया, गाजियाबाद (उप्र) द्वारा मुद्रित।

(क) उपन्यास

इकाई-1 : गोदान : प्रेमचन्द्र

गोदान : संवेदना और शिल्प

-(स्व.) डॉ. हरदयाल
पूर्व रीडर, हिन्दी विभाग,
श्यामलाल कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रेमचन्द्र क्रमशः विकसित होने वाली प्रतिभा के रचनाकार थे। इसीलिए उनकी उपन्यासकला क्रमशः विकसित होती हुई उनके अंतिम पूर्ण उपन्यास 'गोदान' (1936) में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची और उनके इस उपन्यास को एक कालजयी कृति (क्लैसिक) का सम्मान मिला। नलिन विलोचन शर्मा ने हिन्दी के जिन दस श्रेष्ठ उपन्यासों की सूची बनाई थी, उसमें उन्होंने 'गोदान' को सबसे ऊपर रखा था। 'मैला आँचल' पर आलोचनात्मक लेख लिखते हुए उन्होंने लिखा था कि वे बिना किसी संकोच के उन दस उपन्यासों में से किसी एक उपन्यास को हटाकर उसके स्थान पर इसे रख सकता हूँ। 'मैने इसे 'गोदान' के बाद हिन्दी का वैसा दूसरा महान उपन्यास माना है।' (नलिन विलोचन शर्मा : संकलित निबंध, संकलन गोपेश्वर सिंह, पृष्ठ 194) नलिन विलोचन शर्मा ने ही नहीं, प्रायः सभी आलोचकों ने इसे 'महान उपन्यास' माना है और इसे विभिन्न दृष्टिकोणों से इतना विवेचित विश्लेषण किया है जितना हिन्दी के शायद ही किसी अन्य उपन्यास को किया हो इससे 'गोदान' की महत्ता स्वतः सिद्ध है।

अपनी आर्थिक कठिनाइयों और कर्ज से मुक्ति पाने के लिए वे मुंबई गए। वहीं फिल्मि माया नगरी में बैठकर उन्होंने 'गोदान' की रचना की। लेकिन वे वहाँ रम नहीं पाए। उन्होंने वहीं से जैनेन्द्र की एक पत्र लिखा था- 'कर्जदार हो गया था, कर्ज पटा दूँगा, मगर और कोई लाभ नहीं। उपन्यास 'गोदान' के अंतिम पृष्ठ लिखने बाकी हैं। उधर मन नहीं जाता। (जी चाहता है) यहाँ से छुट्टी पाकर अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूँ। वहाँ धन नहीं है, मगर संतोष अवश्य है। यहाँ तो जान पड़ता है कि जीवन नष्ट कर रहा हूँ।' ('हंस', मई, 1939 पृष्ठ 900) अपनी मृत्यु (8 अक्टूबर, 1936) से तीन महीने पहले उपेन्द्रनाथ 'अशक' को लिखे हुए पत्र में उन्होंने आकांक्षा व्यक्त की थी- 'भाई, मनुष्य का बस हो तो कहीं देहात में जा बसे, दो-चार जानवर पाल ले और जीवन को देहातियों की सेवा में व्यतीत कर दे।' ('हंस', मई, 1939, पृष्ठ 810) मुंबई में मन न लगने और कहीं देहात में जा बसने की उनकी आकांक्षा के पीछे उनके ग्रामीण संस्कार हैं। मनोवैज्ञानिक बताते हैं कि किशोरावस्था में मनुष्य के जो संस्कार बन जाते हैं, उनसे वह जीवन-भर मुक्त नहीं हो पाता। प्रेमचन्द्र भी गाँव में जन्में थे; वहीं उनके संस्कार निर्मित हुए थे। इसीलिए चाहे वे बनारस, लखनऊ या मुंबई में भले ही रहे हों, लेकिन गाँव के प्रति अपनी ललक से कभी मुक्त नहीं हो पाए। गाँव में जन्मनें और वहीं संस्कार अर्जित करने के कारण उनकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी थी। इस सबका प्रभाव उनके रचना कर्म पर भी पड़ा। शहर में जन्मने वाला और वहीं संस्कार अर्जित करने के कारण इनकी प्रवृत्ति और अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी थी। इस सबका प्रभाव उनके रचना कर्म पर भी पड़ा। शहर में जन्मने वाला और अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वाला कोई उपन्यासकार 'गोदान' जैसा उपन्यास कभी नहीं लिख सकता था। यही कारण है कि 'गोदान' की केन्द्रीय कथा गाँव की है और सहयोगी कथा शहर की।

‘गोदान’ की मुख्य कथा का केन्द्र है होरी का गाँव बेलारी। और इस मुख्य कथा का केन्द्र होरी, उसका परिवार और उसके शोषक हैं। होरी पाँच बीघे का किसान है। उसकी सबसे बड़ी आकांक्षा है एक गाय पालना। होरी के लिए गाय दुधारू पशु मात्र नहीं है, बल्कि उसका संबंध धार्मिक संस्कारों से भी है। हिन्दू गाय की सेवा करके ही स्वर्ग प्राप्त करने की क्षमता में आस्था रखता है और उसकी पूँछ पकड़कर ही वह वैतरणी पार कर सकता है। असल में यह आर्य संस्कार हैं। गोधन की चर्चा हमारे साहित्य में वैदिक काल से ही होती रही है। वशिष्ठ और विश्वामित्र के बीच एक गाय को लेकर ही द्वन्द्व हुआ था और इसी द्वन्द्व के परिणामस्वरूप त्रिशकु अधर में लटका था। होरी छल-कपट से भोला के यहाँ से गाय ले भी आता है, लेकिन वह उसके पास अधिक समय तक रह नहीं पाती। ईर्ष्यावश उसी का छोटा भाई हीरा उसे जहर दे देता है और गाय मर जाती है। गाँव के महाजन, पटवारी, राय साहब और उनके कारिन्दे, जाति और धर्म के ठेकेदार उसका बराबर शोषण करते हैं। वह कर्ज से लदता जाता है। उसका बेटा गोबर भोला की पुत्री झुनिया के प्रेम में फंस कर उसे गर्भावस्था में अपने माँ-बाप के पास छोड़कर लखनऊ भाग जाता है। होरी की विपन्नता बढ़ती जाती है। उसके पास केवल तीन बीघे खेत रह जाते हैं। किसान से मजदूरी को हीन समझने वाले होरी को अन्ततः मजदूर बन जाना पड़ता है। गोबर लखनऊ में छोटे-मोटे काम करके, पैसे कमाकर गाँव आता है और झुनिया और अपने बेटे को लेकर लखनऊ वापस चला जाता है। फिर दूसरा बेटा पैदा होता है। डॉक्टर मालती के कारण वह और उसका बेटा किंचित् सुखी जीवन व्यतीत करते हैं। रूपा के विवाह के बाद झुनिया और बेटे को छोड़कर वापस लखनऊ चला जाता है। होरी और धनियाँ की गाय पालने की आकांक्षा फिर तीव्र हो उठती है। अपने पोते मंगल को गाय का दूध पिलाने के लिए होरी गाय पालना चाहता है। गाय खरीदने के लिए वह कंकड़ खोदने की आठ आने रोज की मजदूरी करता है, रात में देर तक वह और धनियाँ सुतली कातते हैं। होरी दिन-प्रति-दिन दुर्बल होता जाता है एक दिन उसे लू लग जाती है और मूर्छित अवस्था में उसे घर लाया जाता है। उसके बचने की कोई उम्मीद नहीं है। हीरा वापस आ गया है। वह कहता है- ‘भाभी, दिल कड़ा करो; गोदान करा दो, दादा चले।’ गाँव के अन्य कई लोग भी कहते हैं- ‘हाँ, गोदान करा दो, अब यही समय है।’ ‘धनियाँ यन्त्र की भाँति उठी। आज जो सुतली बेची थी, उसके बीस आने पैसे लाई और पति के ठंडे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली- ‘महाराज, घर में गाय, न बछिया, न पैसा। यही पैसा है, यही इनका गोदान है।’ और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।’ (गोदान, संस्करण-1972 पृष्ठ 344)

यह है होरी के माध्यम से प्रस्तुत की नयी भारतीय किसान की त्रासदी।

गाँव को शहर से जोड़ने वाला एक गोबर है तो दूसरे गाँव के जमींदार राय साहब। वे किसानों का शोषण करते हैं, लेकिन बड़ी मिठास के साथ। उनके ऊपर लंबा-चौड़ा नाते-रिश्तेदारों का परिवार है, जो विलासितापूर्ण जीवन बिताता है। उनकी पत्नी का देहावसान हो चुका है। एक पुत्र और एक पुत्री है। पुत्री अपने पति को छोड़ देती है और पुत्र मालती की बहिन सरोज से उनकी मर्जी के खिलाफ विवाह कर लेता है। वे राजभक्त भी हैं और स्वाधिनता आंदोलन में भी भाग लेते हैं।

राय साहब की ही तरह शहर के अन्य प्रमुख पात्रों को भी अपनी-अपनी कथाएँ हैं। मि. चन्द्रप्रकाश खन्ना हैं। उनके अनेक धन्धे हैं। वे पैसों के प्रति पागल हैं। वे एक चीनी मिल लगाते हैं। अच्छी-खासी चलती है। मजदूरों की हड़ताल होती है। चीनी मिल में आग लग जाती है और वे तबाह हो जाते हैं। अपनी सम्पन्नता के दिनों में वे मालती के पीछे पागल हैं किन्तु विपन्नता में उन्हें अपनी पत्नी गोबिन्दी खन्ना (छठे परिच्छेद में कामिनी खन्ना) से ही सहारा मिलता है। मजदूरों की हड़ताल करने वालों में एक पत्रकार ओंकारनाथ हैं जो -बिजली’ नामक पत्र निकालते हैं। बनते तो वे सिद्धान्तवादी हैं लेकिन पैसों के लिए वे कोई भी समझौता करने को तैयार हैं। ज़रा-सी असुविधाजनक स्थिति उत्पन्न होने पर वे मैदान छोड़ कर भाग खड़े होते हैं। खन्ना की चीनी मिल के मजदूरों के द्वारा हड़ताल करने वालों से दूसरे मिर्जा खुर्शेद हैं। वे समाज के विपन्नों पर खर्च करते हैं। कबड्डी खिलाने के

रूप में मजदूरों को काम देना, वेश्याओं की नाटकमंडली बनाना उनके ऐसे ही काम हैं। लखनऊ आने पर गोबर को सबसे पहले मिर्जा खुर्शद ही अपने यहाँ नौकर रखते हैं। एक मि. तंखा हैं, जो किसी भी व्यक्ति के पक्षधर बन जाते हैं, उसके हितसाधन की बात करते हैं, लेकिन उनकी निगाह हमेशा अपने हितसाधन पर रहती हैं। वे रायसाहब के भी पक्षधर हैं, लेकिन उनसे हित न सधता देखकर उनके विरुद्ध चुनाव लड़ने वाले सूर्यप्रतापसिंह से जा मिलते हैं। सूर्यप्रतापसिंह के चुनाव हार जाने पर वे पिता से अलग हुए राय साहब के पुत्र रूद्रपाल के साथ हो लेते हैं।

लखनऊ शहर से जुड़े लोगों में से एक प्रमुख कहानी पेशे से डाक्टर रूपवती मिस मालती और दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर मेहता की है। मालती के पीछे भौरों की तरह मंडराने वाले अनेक हैं, जिनमें एक मि. खन्ना हैं, लेकिन वह मि. मेहता की ओर आकर्षित होती है; उनसे प्रेम करने लगती है। मि. मेहता के प्रेम और विवाह के दर्शन से परिचित होने पर उनके प्रति मालती का अन्ध आकर्षण ठंडा पड़ जाता है। उधर धीरे-धीरे मि. मेहता के मन में मालती के प्रति प्रेम-भावना जाग्रत हो जाती है। जब वे मालती के सामने विवाह का प्रस्ताव रखते हैं, तो वह उसे अस्वीकार कर देती है-‘मैं महीनों से इस प्रश्न पर विचार करती रही हूँ और अन्त में मैंने यह तय किया है कि मित्र बनकर रहना स्त्री-पुरुष बनकर रहने से कहीं सुखकर है। तुम मुझसे प्रेम करते हो, मुझ पर विश्वास करते हो; और मुझे भरोसा है कि आज अवसर आ पड़े तो तुम मेरी रक्षा प्राणों से करोगे। तुममें मैंने अपना पथ-प्रदर्शक ही नहीं, अपना रक्षक भी पाया है। मैं भी तुमसे प्रेम करती हूँ; तुम पर विश्वास करती हूँ और तुम्हारे लिए कोई ऐसा त्याग नहीं है जो मैं न कर सकूँ। और परमात्मा से मेरी यही विनय है कि वह जीवन-पर्यन्त मुझे इसी मार्ग पर दृढ़ रखे। हमारी पूर्णतः के लिए, हमारी आत्मा के विकास के लिए और क्या चाहिए? अपनी छोटी-सी गृहस्थी बनाकर अपनी आत्माओं को छोटे-से पिंजड़े में बन्द करके, अपने दुख-सुख को अपने ही तक रखकर क्या हम असीम तक पहुँच सकते हैं? वह तो हमारे मार्ग में बाधा ही डालेगा। कुछ बिरले प्राणी ऐसे भी हैं जो पैरों में ये बेड़ियाँ डालकर भी विकास के पथ पर चल सकते हैं और चल रहे हैं। यह भी जानती हूँ कि पूर्णता के लिए पारिवारिक प्रेम और त्याग और बलिदान का बहुत बड़ा महत्त्व है; लेकिन मैं अपनी आत्मा को उतना दृढ़ नहीं पाती।’ (गोदान; पृष्ठ 324) विवश होकर प्रो. मेहता को मालती की यह बात माननी पड़ी।

इस प्रकार ‘गोदान’ में पात्रों की संख्या बहुत है और उनमें से प्रायः हर पात्र की अपनी कहानी है। क्या इन कहानियों को प्रेमचन्द परस्पर अभिन्न रूप से जोड़ पाए हैं? इसी प्रश्न का उत्तर खोजने की प्रक्रिया में आलोचकों में इसकी कथा-संरचना, इसके गठन को लेकर बराबर विवाद रहा है। क्या ‘गोदान’ में केवल होरी और उससे संबद्ध गाँव की ही कथा होनी चाहिए थी, नगर की कथा नहीं? अथवा गाँव और नगर दोनों की कथाएँ होनी चाहिए थी? ‘गोदान’ की ग्राम-कथा और नगर कथा परस्पर कितनी संबद्ध हैं? इन प्रश्नों का उत्तर देते समय आलोचकों ने परस्पर विरोधी स्थापनाएँ की हैं। उदाहरण के लिए कुछ स्थापनाएँ प्रस्तुत हैं-

1. ‘गाँव की कथा पर उसमें शहर कुछ थोपा हुआ-सा है; वह अनिवार्य नहीं है; पुस्तक की कथा के साथ एक नहीं है। हो सकता था कि होरी की कथा के केंद्र में रहने के लिए; और ऐसे कि सब प्रकाश उसी पर पड़े; दूसरे ब्यौरे ध्यान को खींच कर अपनी ओर न ले जाए; शहर को पुस्तक से मैं अनुपस्थित हो जाने देता। ऐसा संभव था कि शहरी जीवन के प्रति विरोध और अनास्था प्रकट करने का सुभीता न रहता, न ग्रामीण जीवन के प्रति रुचि और सहानुभूति उबारने का उस प्रकार सुगम अवसर। लेकिन मैं उसका लोभ न करता।’ (जैनेन्द कुमार ; गोदान-विमर्श ; सं. डॉ. ज्ञानचन्द गुप्त, पृष्ठ 13)
2. ‘गोदान’ उपन्यास के नागरिक और ग्रामीण पात्र एक बड़े मकान के दो खंडों में रहने वाले दो परिवारों के समान हैं, जिनका एक-दूसरे के जीवनक्रम से बहुत कम संपर्क है। वे कभी-कभी आते-आते

मिल लेते हैं और कभी-कभी किसी बात पर झगड़ा भी कर लेते हैं, परन्तु न तो उनके मिलने और न झगड़ने में ही ऐसा कोई संबंध स्थापित हो जाता है जिसे स्थायी कहा जा सके।' (नन्ददुलारे वाजपेयी; वही; पृष्ठ 20)

3. 'शहर की पूरी कथा को ('गोदान' से) निकाल देने पर गाँव की कथा में कुछ जुड़ता ही है, घटता नहीं। किसी भी साहित्यिक रचना में व्यर्थ का (एक) वाक्य भी नहीं आना चाहिए। यहाँ तो फिजूल में एक लंबी कथा कह डाली गयी है।' (डॉ. बच्चन सिंह; वही; पृष्ठ 106)
4. 'प्रेमचन्द की स्थापत्य विषयक असफलता इस बात में नहीं कि वे 'गोदान' की कथाओं को परस्पर संबद्ध करने में असफल रहे हैं। उनकी असफलता इस बात में है कि उन्होंने 'गोदान' के मुख्य विषय पर एक आदर्श को चिपका दिया है, जो अयथार्थ होने के कारण मूल कथा से एकमेक नहीं हो पाता और इस कारण 'गोदान' की संरचना त्रुटिपूर्ण हो जाती है।' (गोपाल राय; 'गोदान'-नया परिप्रेक्ष्य, प्रथम संस्करण, 1982; पृष्ठ 107-08)
5. 'नदी के दो तट असंबद्ध दीखते हैं, पर वे वस्तुतः असंबद्ध नहीं रहते-उन्हीं के बीच से जलधारा बहती है। इसी तरह 'गोदान' की असंबद्ध सी दीख पड़ने वाली दोनों कहानियों के बीच से भारतीय जीवन की विशाल धारा बहती चली जाती है। भारतीय जीवन का, जो एक ओर तो नागरिक है और दूसरी ओर ग्रामीण, और जो एक साथ ही अत्यन्त प्राचीन भी है और जागरण के लिए छटपटा भी रहा है, इतने बड़े पैमाने पर इतना यथार्थ चित्रण हिन्दी में ही क्यों, किसी भी भारतीय भाषा के किसी भी उपन्यास में नहीं हुआ है। यदि 'गोदान' का स्थापत्य कृत्रिम रूप से सुसंघटित रहता तो अवश्य ही भारतीय जीवन के वैविध्य को आँखों के सामने चलने वाली, अतः अस्पष्ट, परिवर्तन की प्रतिक्रियाओं का चित्रागार नहीं बन पाता।' (नलिन विलोचन शर्मा : संकलित निबंध-संकलन गोपश्वर सिंह; प्रथम संस्करण 2010 ; पृष्ठ 149)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि अधिकांश आलोचकों के अनुसार 'गोदान' शिथिल संरचना वाला उपन्यास है। प्रश्न यह है कि प्रेमचन्द ने 'गोदान' में जो कुछ कहा है, क्या सुगठित संरचना वाले उपन्यास में कह पाते ? निश्चय ही 'नहीं'। इसलिए संरचना की दृष्टि से 'गोदान' चाहे निर्दोष न हो, लेकिन कथ्य के विस्तार और वैविध्य की दृष्टि से उसमें यह दोष आना अनिवार्य था। संभवतः इसीलिए कुछ आलोचकों ने 'गोदान' को महाकाव्यात्मक उपन्यास कहा है- 'वस्तुतः यही 'गोदान' के स्थापत्य की यह विशेषता है जिसके कारण उसमें महाकाव्यात्मक गरिमा आ जाती है।' (नलिन विलोचन शर्मा; वही; पृष्ठ 149) हिन्दी के कितने उपन्यास हैं जिन्हें महाकाव्यात्मक उपन्यास कहा गया है? इसलिए 'गोदान' की महाकाव्यात्मकता भी विचारणीय है।

आधुनिक काल में विश्व भर में पद्यबद्ध महाकाव्यों की रचना क्रमशः क्षीण होती गई है। हिन्दी में ही आधुनिक काल में जिन काव्यों को महाकाव्य के रूप में स्वीकार किया गया है, वे गिनेचुने ही हैं। इसलिए यह स्थापना सामने आई कि 'उपन्यास महाकाव्य का आधुनिक स्थापत्य है।' (हीगल) 'आधुनिक काल में उपन्यास महाकाव्य की वर्णनात्मक विशेषता को पकड़ने का एक प्रयत्न है, जो पदार्थ और आत्मा, जीवन और तत्त्व में सामंजस्य स्थापित करती है। यह महाकाव्य का स्थानापन्न है, क्योंकि आधुनिक जीवन की परिस्थितियों ने अब महाकाव्य की रचना को असंभव बना दिया है।' (लूकाच) उपन्यास के महाकाव्य का स्थानापन्न होने की इस स्थापना को प्रायः सभी ने स्वीकार कर लिया है, लेकिन जिन उपन्यासों को महाकाव्यात्मक उपन्यास के रूप में स्वीकृति मिली, वे अपवादस्वरूप ही हैं। सबसे पहले तोलस्तोय के उपन्यास 'युद्ध और शान्ति'; (वायना ई मीर) को 'महाकाव्यात्मक उपन्यास' (एपिक नॉवेल) घोषित किया गया; क्योंकि इस उपन्यास में उन्नीसवीं शताब्दी के दो-ढाई दशकों के

रूसी जीवन का सर्वांगीण चित्रण किया गया है। हिन्दी में 'गोदान' उन अपवादस्वरूप उपन्यासों में से है, जिसे महाकाव्यात्मक कहा गया है, यद्यपि सभी आलोचक इसे इस रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। डॉ. नगेन्द्र प्रेमचन्द के 'गोदान' का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी " प्रथम श्रेणी का कलाकार मानने को प्रस्तुत नहीं" हैं। (विचार और विवेचन; द्वितीय संस्करण, मार्च, 1964, पृष्ठ 96) पाश्चात्य एवं भारतीय काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य के जो मूल तत्त्व-उदात्त कथानक, उदान्त कार्य अथवा उद्देश्य, उदात्त चरित्र, उदात्त भाव और उदात्त शैली-निश्चित किए हैं (डॉ. नगेन्द्र; 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ; द्वितीय संस्करण, 1965; पृष्ठ 16) यदि उन्हें 'गोदान' पर अभिधात्मक रूप से घटित किया जाए तो 'गोदान' की महाकाव्यात्मकता सिद्ध नहीं की जा सकती।

'गोदान' को महाकाव्यात्मक उपन्यास स्वीकार करने के लिए थोड़ा हटकर विचार करना होगा। महाकाव्य और उपन्यास के साहित्यिक रूप में बहुत अन्तर है; फिर भी कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो दोनों में समान रूप से विद्यमान होते हैं; जैसे, वर्णन और विवरण की प्रचुरता; जीवन के विविध पक्षों को समेटकर चलने वाली विस्तृत कथा; जीवन और जगत का बहुआयामी चित्रण; भाषा और शैली की गंभीरता आदि। जब हम देखते हैं कि 'गोदान' में 'एक समाज का बड़े पैमाने पर, गहराई के साथ चित्रण किया गया है। वह समाज निश्चित रूप से ब्रिटिश काल का उत्तर भारतीय ग्रामीण समाज है, जिसके जीवन और संस्कृति का बहुआयामी, अन्तर्भेदी चित्रण' किया गया है। (डॉ. गोपाल राय; 'गोदान-नया परिप्रेक्ष्य'; पृष्ठ 18) तो उसकी महाकाव्यात्मकता का आभास हमें होने लगता है। डॉ. गोपाल राय का यह निष्कर्ष ठीक ही है कि " 'गोदान' ग्राम जीवन और संस्कृति को उसकी संपूर्णता में प्रस्तुत करने वाला अद्वितीय उपन्यास है। यह सही है कि यह एक काल विशेष के ग्रामीण समाज का चित्र प्रस्तुत करता है, जो आजादी के बाद निरन्तर बदल रहा है, पर अपनी यथार्थता, व्यापकता और संवेदनात्मक गहराई में यह चित्रण निश्चय ही बेजोड़ है। ग्रामीण जीवन और संस्कृति के अंकन की दृष्टि से इस उपन्यास का वही महत्त्व है जो मध्यकाल में युग जीवन की अभिव्यक्ति की दृष्टि से महाकाव्यों का हुआ करता था।" (वही; पृष्ठ 18)

'गोदान' में प्रेमचन्द की संवेदना मुख्यतः भावों और विचारों के रूप में सामने आई है। उसमें इन्द्रियबोध की क्षीणता है। इन्द्रियबोध कहीं-कहीं प्रकृति के छोटे-छोटे चित्रणों में हमें मिलता है। जैसे "नदी के किनारे चाँदी का फर्श बिछा हुआ था और नदी रत्नजटित आभूषण पहने मीठे स्वरों में गाती, चाँद को और तारों को और सिर झुकाए नौद में गाते वृक्षों को अपना नृत्य दिखा रही थी।" (गोदान; पृष्ठ 295) इस चित्रण में भरपूर बिम्बात्मकता है, मानवीकरण है और सटीक दृष्टिबोध है। लेकिन 'गोदान' में ऐसे प्रकृति चित्रण एक तो छोटे हैं और संख्या में कम हैं।

इन्द्रियबोध की क्षीणता का ही परिणाम है कि 'गोदान' में प्रेमप्रसंगों में गंभीर अनुभूति के स्थान पर अद्भुत वाग्मिता और वाचालता है। जैसे, झुनिया और गोबर के इस पारस्परिक प्रेमोदय के प्रसंग में-

'गोबर ने आवरणहीन रसिकता के साथ कहा-अगर भिक्षुक को भीख मिलने की आसा हो जो वह दिन-भर और रात-भर दाता के द्वार पर खड़ा रहे।

'झुनिया ने कटाक्ष करके कहा-तो यह कहो, तुम भी मतलब के यार हो।

गोबर की घमनियों का रक्त प्रबल हो उठा। बोला-भूखा आदमी अगर हाथ फैलाए तो उसे क्षमा कर देना चाहिए।

झुनिया और गहरे पानी में उतरी-भिक्षुक जब तक दस द्वारे न जाए, उसका पेट कैसे भरेगा? मैं ऐसे भिक्षुकों को मुँह नहीं लगाती। ऐसे तो गली-गली मिलते हैं। फिर भिक्षुक देता क्या है, असीस! असीसों से तो किसी का पेट नहीं भरता।

×

×

×

गोबर ने कामना से उद्दीप्त मुख से कहा-भिक्षुक को एक ही द्वार पर भर पेट मिल जाए तो क्यों द्वार-द्वार घूमे!
दुनिया ने सदय भाव से उसकी ओर ताका। कितना भोला है, कुछ समझता ही नहीं।

‘भिक्षुक को एक द्वार पर भरपेट कहाँ मिलता है। उसे तो चुटकी ही मिलेगी। सर्वस तो तभी पाओगे जब अपना सर्वस दोगे।’

‘मेरे पास क्या है झुनिया?’

‘तुम्हारे पास कुछ नहीं है? मैं तो समझती हूँ, मेरे लिए तुम्हारे पास जो कुछ है वह बड़े-बड़े लखपतियों के पास नहीं है। तुम मुझसे भीख न माँग कर मुझे मोल ले सकते हो।’

गोबर उसे चकित नेत्रों से देखने लगा।

झुनिया ने फिर कहा-‘और जानते हो, दाम क्या देना होगा? मेरा होकर रहना पड़ेगा। फिर किसी के सामने हाथ फैलाए देखूंगी तो घर से निकाल दूँगी।’ (गोदान, पृष्ठ 45-46)

गोबर और झुनिया बार-बार मिलते रहे। उनके प्रेम में वासना भी थी जो उनके शारीरिक संबंध और पुनिया के गर्भ धारण करने में परिणत हुई। ग्रामीण पात्रों का प्रेम अशारीरी नहीं है। उसमें शारीरिकता अनिवार्य है चाहे वह विवाहित स्त्री-पुरुषों में हो चाहे अविवाहित। ‘गोदान’ में अविवाहित अनेक स्त्री-पुरुषों में संबंध है जिसे सारे गाँव वाले जानते हैं। इन संबंधों की मातादीन और सिलिया की एकनिष्ठा जैसी परिणति प्रायः नहीं होती। शहरी पात्रों के प्रेम का चित्रण प्रेमचन्द ने इस रूप में किया है कि उसमें भावना तो सामने आती है, शारीरिकता सामने नहीं आती, चाहे वह मालती और मेहता का प्रेम हो या मालती की बहिन सरोज और राय साहब के पुत्र रुद्रपाल के बीच का प्रेम हो। दाम्पत्य द्वन्द्व के कुछ रूप ग्रामीण दम्पतियों के बीच भी प्रेमचन्द ने चित्रित किए हैं और शहरी दम्पतियों के बीच भी।

प्रेम के अतिरिक्त और तमाम मनोभावों को प्रेमचन्द्र ने ‘गोदान’ में प्रस्तुत किया है। वात्सल्य, यातना, पीड़ा, ईर्ष्या-द्वेष, साहस, हास्य, भय, परपीड़न, आत्मपीड़न, औदात्य, क्षुद्रता, स्वार्थपरता, झूठ, छल-कपट, हताशा, विवशता आदि तमाम मनोभाव विभिन्न पात्रों के चारित्रिक गुणों या दुर्गुणों के रूप में ‘गोदान’ में सामने आए हैं।

‘गोदान’ में प्रेमचन्द के जीवन के अनुभवों के निष्कर्ष उनके विचारों के रूप में सामने आए हैं। ‘गोदान’ में उनके अनुभवों के तमाम निष्कर्ष सूक्तियों के रूप में सामने आए हैं। जैसे 1. कर्ज वह मेहमान है जो एक बार आकर जाने का नाम नहीं लेता।’ (पृष्ठ 100), 2. ‘आसक्ति में आदमी अपने बस में नहीं रहता।’ (पृष्ठ 281), 3. ‘आप मानवता लिए फिरते हैं... आज भी मनुष्य की पशुता ही उसकी मानवता पर विजय पा रही है।’ (पृष्ठ 507), 4. ‘जिसे संसार दुख कहता है वही कवि के लिए सुख है।’ (पृष्ठ 186), 5. ‘नारी केवल माता है और उसके उपरान्त वह जो कुछ है वह मातृत्व का उपक्रम मात्र।’ (पृष्ठ 189-90) प्रेमचन्द ने ‘गोदान’ में आदर्श स्त्री-पुरुष की जो अवधारणा व्यक्त की है वह उनके चिन्तन और अनुभव का निष्कर्ष है जो मुख्यतः प्रो. मेहता के कथनों के माध्यम से व्यक्त हुआ है। प्रो. मेहता के माध्यम से उन्होंने स्त्री को पुरुष से श्रेष्ठ सिद्ध किया है-‘मैं उन लोगों में नहीं हूँ जो कहते हैं, स्त्री और पुरुष में समान शक्तियाँ हैं; समान प्रवृत्तियों हैं और उनमें कोई भिन्नता नहीं है; इससे भयंकर असत्य की कल्पना नहीं कर सकता।.....स्त्री पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ है जिनता प्रकाश अंधेरे से। मनुष्य के लिए क्षमा, त्याग, और अहिंसा जीवन के उच्चतम आदर्श हैं। नारी इस आदर्श को प्राप्त कर चुकी है।...मैं कहता हूँ उस पुरुष का सारा अध्यात्म और योग एक तरफ और नारियों का त्याग एक तरफ।’ (पृष्ठ 153) स्त्री के इस आदर्श रूप को उन्होंने गोविन्दी खन्ना में रूपायित किया है और प्रो. मेहता से स्पष्ट रूप से कहला दिया है-‘जिस नारीत्व को मैं आदर्श मानता हूँ, आप (गोविन्दी खन्ना) उसकी सजीव प्रतिमा है।’ (पृष्ठ 186)

जहाँ तक आदर्श पुरुष का रूप है वह आंशिक रूप से प्रो. मेहता में रूपायित हुआ है। आदर्श पुरुष के नैतिक पक्ष को ही प्रेमचन्द ने विभिन्न पात्रों के वक्तव्यों के रूप में प्रस्तुत किया है। पुरुष जिस स्त्री का हाथ पकड़े उसे जीवन-भर निबाहे। आदर्श पुरुष को नपुंसक की तरह अपनी पत्नी के व्यभिचार को नजरअंदाज नहीं करना चाहिए। मेहता से उन्होंने स्पष्ट कहलाया है कि यदि मैं और मालती पति-पत्नी के रूप में बंध जायें और उस अवस्था में मालती किसी दूसरे पुरुष से यौन संबंध स्थापित करे तो 'मैं पहले तुम्हारा (मालती का) प्राणान्त कर दूंगा, फिर अपना।' (पृष्ठ 298)

'गोदान में प्रेमचन्द ने अनेक प्रसंग और निष्कर्ष ऐसे प्रस्तुत किये हैं जो आज अत्यधिक सटीक हैं। जैसे, जनतंत्र के विषय में मिर्जा खुर्शेद का यह कथन—'जिसे हम डेमॉक्रेसी कहते हैं वह व्यवहार में बड़े-बड़े व्यापारियों और जमींदारों का राज है, और कुछ नहीं। चुनाव में वहीं बाजी ले जाती है जिसके पास रुपये हैं।' (पृष्ठ 91-92) आज जो उत्तरपूंजीवाद फल-फूल रहा है, उस पर मालती का यह कथन कितनी सटीक टिप्पणी है—'इस नयी सभ्यता का आधार धन है। विद्या और सेवा कुल और जाति सब धन के सामने हेय हैं।' (पृष्ठ 137) 'बिजली' पत्र के प्रकाशक-सम्पादक ओंकारनाथ का यह कथन हमारे सामने आज के दैनिक पत्रों का यथार्थ रूप उजागर कर देता है—'बात यह है कि मैं अपने पत्र का आदर्श गिराना नहीं चाहता, अगर मैं आज सिनेमा स्टारों के चित्र और चरित्र छापने लगूँ तो मेरे ग्राहक बढ़ सकते हैं!..... और भी कितने ही हथकंडे हैं, जिनसे पत्रों द्वारा धन कमाया जा सकता है, लेकिन मैं उन्हें गर्हित समझता हूँ।' (पृष्ठ 167) आज प्रायः हर दैनिक पत्र रंगीन छपता है और सिने-स्टारों तथा परोपजीवी भद्रजनों के रंगीन चित्र ही नहीं छापता बल्कि उनके संबंध में चटपटी खबरें भी छापता है। गंभीर समाचारों और समाचार-विश्लेषणों के स्थान पर चौंकाने वाली खबरों और सनसनी फैलाने वाले विश्लेषणों को वरीयता दी जाती है। 'गोदान' में प्रस्तुत ये चीजें साहित्यकार को भविष्य द्रष्टा सिद्ध करती हैं।

प्रेमचन्द आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के पक्षकर थे। 'गोदान' में उन्होंने जिस तरह किसान के शोषण का चित्रण किया है और होरी को अन्ततः मजूरी करते-करते मर जाने दिया है, उससे कम-से-कम ग्रामीण जीवन को लेकर वे यथार्थवादी हो गये हैं। 'गोदान' के रचना काल के समय सामन्तवादी व्यवस्था को पीछे ढकेल कर जिस तरह पूंजीवाद अपना वर्चस्व स्थापित कर रहा था, उसका यही यथार्थ था। आज देश के अनेक भागों में कर्ज में डूबे किसान आत्महत्या कर रहे हैं; पूंजीपति और सरकारें कृषि भूमि पर कब्जा कर उन्हें भूमिहीन बना रहे हैं और वे गाँव छोड़कर मजदूर बनकर शहरों की ओर भाग रहे हैं, आज यह यथार्थ और कटु हो गया है। लेकिन प्रेमचन्द पूर्णतः यथार्थवादी 'गोदान' में भी नहीं हो पाये। होरी के गाँव में न सही, उच्च और मध्यवर्ग के लखनऊ में उन्होंने आदर्श अवश्य प्रस्तुत किया है। इसलिए 'गोदान' में कथा-संरचना, वैचारिक स्थापनाओं और चरित्र सृष्टि में अनेक अन्तर्विरोध विद्यमान है।

'गोदान' के प्रायः सभी पात्र अपने-अपने वर्ग की सामान्य विशेषताओं का प्रतिनिधित्व भी करते हैं और इसीलिए एक सीमा तक प्रतिनिधि (टाइप) पात्र हैं और निजी विशेषताएँ भी रखते हैं जिसके कारण वे आंशिक रूप से विशिष्ट पात्र भी हैं। इसीलिए 'गोदान' का छोटा-बड़ा हर पात्र अविस्मरणीय बन गया है। क्या 'गोदान' का कोई पाठक होरी, धनिया, गोबर, भोला, झुनिया, पुन्नी, हीरा, सोना, रूपा, मंगरु साह, दातादीन पंडित, मातादीन, सोभा, नोहरी, सिलिया, झिंगुरी सिंह, पंडित नोखेराम, पटेश्वरी, जमींदार राय साहब, पंडित ओंकारनाथ, श्याम बिहारी तंखा, प्रो. मेहता, मिस मालती, मिर्जा खुर्शेद, गोबिन्दी खन्ना आदि को भुला सकता है? यहाँ तक कि चुहिया जैसे अत्यन्त गौण पात्र भी हमें याद रह जाते हैं। प्रायः प्रत्येक पात्र के चरित्र का एक केन्द्रीय सूत्र है जिसमें उसके चरित्र की अधिकांश विशेषताएँ निहित हैं। उदाहरण के लिए होरी के चरित्र का केन्द्रीय सूत्र है—'होरी किसान था और किसी के जलते हुए घर में हाथ सेंकना उसने सीखा ही न था।' (पृष्ठ 12) स्पष्ट है कि होरी के चरित्र में किसान मात्र के चरित्र की विशेषताएँ मूर्त हुई हैं और किसान के चरित्र की ये विशेषताएँ हैं—

‘किसान पक्का स्वार्थी होता है, इसमें संदेह नहीं। उसकी गाँठ से रिश्वत के पैसे बड़ी मुश्किल से निकलते हैं; भाव-ताव में भी वह चौकस होता है; ब्याज की एक-एक पाई छुड़ाने के लिए वह घंटों महाजन की चिरौरी करता है जब तक पक्का विश्वास न हो जाये, वह किसी के फुसलाने में नहीं आता; लेकिन उसका संपूर्ण जीवन प्रकृति से स्थायी सहयोग है। वृक्षों में फल लगते हैं, उन्हें जनता खाती है; खेती में अनाज होता है, वह संसार के काम आता है; गाय के थन में दूध होता है, वह खुद पीने नहीं जाती, दूसरे ही पीते हैं; मेघों से वर्षा होती है, उससे पृथ्वी तृप्त होती है। ऐसी संगति में कुत्सित स्वार्थ के लिए कहाँ स्थान? (पृष्ठ 12) होरी के चरित्र में किसान की सामान्य स्वार्थपरता और तज्जनित क्षुद्रता है, लेकिन उसके चरित्र में ऐसी उदारता और उदात्तता भी है जो मध्यवर्गीय और उच्चवर्गीय व्यक्तियों में प्रायः नहीं होती।

इसी तरह मिस मालती के चरित्र का मूल सूत्र है—‘मालती बाहर से तितली है, भीतर से मधुमक्खी।’ (पृष्ठ 149) इस सूत्र की व्याख्या भी प्रेमचन्द ने कर दी है—‘उसके जीवन में हंसी-ही-हंसी नहीं है, केवल गुड़ खाकर कौन जी सकता है। और जिये भी तो वह कोई सुखी जीवन न होगा। वह हंसती है इसलिए कि इसके भी दाम मिलते हैं। उसका चहकना और इसलिए नहीं है कि वह चहकने को ही जीवन समझती है या निजत्व को अपनी आँखों में इतना बढ़ा लिया है कि जो कुछ करे, अपने ही लिये करे। नहीं वह इसलिए चकहती है और विनोद करती है कि इससे उसके कर्तव्य का भार कुछ हलका हो जाता है।’ (पृष्ठ 149)

‘गोदान’ में प्रेमचन्द जब भी किसी प्रमुख पात्र से हमारा परिचय करवाते हैं तब उसके चरित्र की अनेक विशेषताएँ स्वयं प्रस्तुत कर देते हैं और बाद में उसके कार्यों दूसरे पात्रों के साथ उसकी बातचीत के द्वारा उद्घाटित करते हैं। किसी पात्र के जीवन में कोई ऐसी घटना घटती है जो उसके चरित्र को बदल कर रख देती है। मि. खन्ना की चीनी मिल में आग लगना ऐसी घटना है जो पूर्णतः बदल देती है। ऐसा परिवर्तन ‘गोदान’ के अनेक पात्रों के चरित्र में देखा जा सकता है।

‘गोदान’ में जितना कुछ प्रेमचन्द ने वर्णनों और विवरणों के द्वारा प्रस्तुत किया है लगभग उतना ही संवादों के द्वारा। ‘गोदान’ में संवादों की भरमार है। होरी और धनिया के बीच यह संवाद एक घटना की संभावना भी हमारे सामने लाता है और होरी तथा धनिया की चारित्रिक विशेषताएँ भी—

‘धनिया ने पूछा—कहाँ लिये जाते हो राते को?’

‘होरी ने एक पग बढ़ाकर कहा—ले जाता हूँ भोला के घर। लौटा दूंगा।’

‘धनिया को विस्मय हुआ। उठकर सामने आ गयी और बोली लौटा क्यों दोगें। लौटाने के लिए ही लाये थे?’

‘हाँ इसके लौटा देने में ही कुशल है।’

‘नहीं; भोला यहाँ कब आया?’

‘तो फिर क्या बात हुई?’

‘क्या करोगी पूछकर?’

‘धनिया ने लपक कर पगहिया उसके हाथ छीन ली। उसकी चपल बुद्धि ने जैसे उड़ती हुई चिड़िया पकड़ ली। बोली—तुम्हें भाइयों का डर हो तो जाकर उनके पैरों पर गिरो। मैं किसी से नहीं डरती। अगर हमारी बढ़ती देखकर किसी की छाती फटती है तो फट जाय, मुझे परवाह नहीं है।

‘होरी से विनीत स्वर में कहा—धीरे-धीरे बोल महारानी। कोई सुने तो कहे ये सब इतनी रात गये लड़ रहे हैं। मैं अपने कानों से क्या सुन आया हूँ, तू क्या जाने! यहाँ चर्चा हो रही है कि मैंने अलग होते समय रूपये दबा लिये थे और भाइयों को धोखा दिया था। यही रूपये अब निकल रहे हैं।

‘हीरा कहता होगा?’

‘सारा गाँव कर रहा है। हीरा को क्यों बदनाम करूँ।’

सारा गाँव नहीं कह रहा है; अकेला हीरा कह रहा है। मैं अभी जाकर पूछती हूँ न कि तुम्हारे बाप कितने रूपये छोड़कर मरे थे? दाढ़ी जारों के पीछे हम बरबाद हो गये। सारी जिन्दगी मिट्टी में मिला दी; पाल-पोसकर संडा किया और अब हम बेईमान हैं। मैं कहे देती हूँ, अगर गाय घर के बाहर निकली तो अनर्थ हो जायेगा। रख लिये हमने रूपये; दबा लिये बीच खेत दबा लिये। डंके की चोट कहती हूँ मैंने हंडे भर असर्फियाँ छिपा ली। हीरा और सोभा और संसार को जो करना हो कर ले। क्यों न रूपये रख लें? दो-दो संडों का ब्याह नहीं किया; गौना नहीं किया।’ (पृष्ठ 42-43)

कुछ संवाद इतने लंबे हैं कि दो-दो, तीन-तीन पृष्ठ तक चलते हैं। जैसे, परिच्छेद तीस में प्रो. मेहता और मालती के बीच के संवाद, लेकिन वे सप्रयोजन हैं; कोरा वाग्विलास नहीं है। चाहे ‘गोदान’ के संवादों में नाटकीयता और काव्यात्मकता कम हो, लेकिन उनकी सार्थकता और प्रासंगिकता असंदिग्ध है।

प्रेमचन्द ने उर्दू में लिखना प्रारंभ किया था। बाद में हिन्दी में लिखना प्रारंभ किया। उनकी प्रायः सभी रचनाएँ हिन्दी और उर्दू दोनों में छपीं। ‘गोदान’ भी उर्दू ‘गऊदान’ के नाम से प्रकाशित हुआ। इसका उर्दू रूपान्तर स्वयं प्रेमचन्द ने किया या किसी और व्यक्ति ने, यह निश्चित नहीं है। हिन्दी और उर्दू दोनों में लिखने का परिणाम यह हुआ कि उसमें न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों की भरमार रही और न ही अरबी, फारसी और तुर्की के मूल शब्दों की। उनकी भाषा बोलचाल की हिन्दी का साहित्यिक रूप में है। वे बोलचाल की भाषा को साहित्यिक सौष्ठव प्रदान करने वाले जादूगर हैं। ‘गोदान’ की भाषा का मूल चरित्र भी यही है। उसमें बोलचाल की भाषा की लय है। पात्रानुसार उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन भी होता है, जिसे हम संवादों की भाषा में विशेष रूप से देख सकते हैं। ‘गोदान’ की भाषा में तमाम आँचलिक शब्दों का प्रयोग हुआ, लेकिन उसमें आँचलिकता की वह रंगत नहीं है जो ‘मैला आँचल’ की भाषा में है। ‘गोदान’ आँचलिक उपन्यास है भी नहीं।

‘गोदान’ की भाषा में आँचलिक शब्द बड़ी सहजता से आये हैं। जैसे—अलगौझा, पांथना, भिनसार, बँसोरे, आपा, हुन, दौगड़ा, आरजा, कौड़ा, फिचकुर, माछुर, भात, भोंदू, घामड़ इत्यादि। तद्भव शब्द तो हर पृष्ठ पर विद्यमान हैं। जैसे—रुखई, गिरस्त, आसिरवाद, निबाह, जैजात, मरजाद, जतन, जेठा, पतियाना, कारन, बेसरम, अरथ, इत्यादि।

शब्द चाहे तत्सम हों, तद्भव हों या आँचलिक हो, अधिकांशतः अभिधा में प्रयुक्त हुए हैं। ‘गोदान’ में मुहावरों का प्रयोग भी खूब हुआ है। मुहावरों में लाक्षणिक और व्यंजनात्मक वैचित्र्य तो होता ही है। कुछ प्रयोग उदारहणार्थ प्रस्तुत हैं—‘तू जो बात समझती नहीं उसमें टाँग क्यों अड़ाती है, भाई!’ (पृष्ठ 7); ‘हमारे नाम बड़े हैं पर दर्शन थोड़े।’ (पृष्ठ 15); ‘हमारी गर्दन दूसरों के पैरों के नीचे दबी हुई है, अकड़ कर निबाह नहीं हो सकता।’ (पृष्ठ 18) ‘धनिया ने जले पर नमक छिड़का।’ (पृष्ठ 34) ‘जब मेरी पीठ में धूल लगती है तो इसी के कारण।’ (पृष्ठ 44) मुहावरों के इस प्रकार के प्रयोग से भाषा में चमक आई है।

शब्द-प्रयोग से आगे बढ़ने पर जब हम भाषा के तेवरों की बात करते हैं तो पाते हैं कि जब स्वयं लेखक किसी प्रसंग को प्रस्तुत करता है तो वहाँ भाषा सहज परिनिष्ठित रूप में सामने आती है। जैसे; ‘वैवाहिक जीवन के

प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप आता है, क्षण-क्षण बगूले उठते हैं और पृथ्वी काँपने लगती है। लालसा का सुनहरा आवरण हट जाता है और वास्तविकता अपने नग्न रूप में सामने आ खड़ी होती है। उसके बाद विश्राममय संध्या आती है, शीतल और शान्त जब हम थके हुए पथिकों की भांति दिन-भर की यात्रा का वृतांत कहते और सुनते हैं तटस्थ भाव से मानो हम किसी ऊंचे शिखर पर जा बैठे हैं जहाँ नीचे का जन-रव हम तक नहीं पहुँचता।’ (पृष्ठ 33) जहाँ भाषा का यह रूप होता है वहाँ भाषा सहज अलंकृत सर्वत्र नहीं है। प्रसंगानुसार प्रेमचंद एकदम सहज-सामान्य शब्द प्रयोग और सामान्य वाक्य रचना में वर्णन-विवरण और सूचनाएँ प्रस्तुत करते हैं। जैसे—‘तीनों खाँचे भूसे से भर दिये गये। गोबर कुढ़ रहा था। उसे अपने बाप के व्यवहारों में जार भी विश्वास न था। वह समझता था, यह जहाँ भी जाते हैं, वहीं कुछ-न-कुछ घर से खो आते हैं। धनिया प्रसन्न थी। रहा होरी, वह धर्म और स्वार्थ के बीच में डूब-उतरा रहा था।’ (पृष्ठ 23)

जहाँ भावनात्मक प्रसंग आते हैं विशेष रूप से संवादों में वहाँ भाषा का तेवर शब्द-प्रयोग और वाक्य रचना में एकदम बदलाव आ जाता है। हम भाषा से ही मनोभाव का अनुमान लगा सकते हैं। जैसे, होरी के द्वारा बाँस बेचने के प्रसंग में पुनिया चौधरी से झगड़ा कर रही है। खबर पाकर क्रोधित हीरा वहाँ आता है। उस समय नीचे उद्धृत अंशों में हीरा और पुनिया की क्रोध की मनःस्थिति भाषिक स्तर पर मूर्त हो गयी है—

‘आते ही उसने पुनी का हाथ पकड़ लिया और घसीटता हुआ अलग ले जाकर लगा लातें जमाने-हरामजादी, तू हमारी नाक कटवाने पर लगी हुई है। तू छोटे-छोटे आदमियों से लड़ती फिरती है; किसकी पगड़ी नीची होती है बता! ...इतनी बेशर्मी! आँख का पानी गिर गया है खोदकर गाड़ दूँगा।’

‘पुनी हाय-हाय करती जाती थी और कोसती जाती थी—‘तेरी मिट्टी उठे, तुझे हैजा हो जाये, तुझे मरी आये, देवी मैया तुझे लील जाये, तुझे इन्फ्लुएंजा हो जाये। भगवान करे तू कोढ़ी हो जाये। हाथ-पांव कट-कट गिरें।’ (पृष्ठ 31)।

यह भाषा, यह वाक्य-रचना कल्पनाप्रसूत नहीं है। यह यथार्थ जीवन से उठायी गयी है। गाँवों में और शहरों की निम्नवर्गीय बस्तियों में थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ हम आज भी इस भाषा का साक्षात्कार कर सकते हैं।

गोबर और उसकी मंडली होली के अवसर पर गाँव के शोषकों को लेकर जो नाटक प्रस्तुत करते हैं, उसमें जो सहज हास्य, व्यंग्य भाषा के माध्यम से प्रस्तुत हुआ है, वह शोषितों के मनोभावों को अत्यन्त सटीक ढंग से प्रस्तुत करता है—

‘किसान आकर ठाकुर के चरण पकड़कर रोने लगता है। बड़ी मुश्किल से ठाकुर रुपये देने पर राजी होते हैं। जब कागज लिख जाता है और असामी के हाथ में पाँच रुपये रख दिये जाते हैं तो वह चकरा कर पूछता है—

‘यह तो पाँच ही हैं, मालिक।’

‘पाँच नहीं दस हैं। घर जाकर गिनना।’

‘नहीं सरकार, पाँच हैं।’

‘एक रुपया नजराने का हुआ कि नहीं?’

‘हाँ सरकार!’

‘एक तहरीर का?’

‘हाँ सरकार!’

‘एक कागद का?’

‘हाँ सरकार!’

‘एक दस्तूरी का?’

‘हाँ सरकार!’

‘एक सूद का?’

‘हाँ सरकार!’

‘पाँच नगद, दस हुए कि नहीं?’

‘हाँ सरकार! अब यह पाँचों भी मेरी ओर से रख लीजिए।’

‘कैसा पागल है’

‘नहीं सरकार! एक रुपया छोटी ठकुराइन का नजराना है; एक रुपया बड़ी ठकुराइन का। एक रुपया छोटी ठकुराइन के पान रखाने को, एक रुपया बड़ी ठकुराइन के पान खाने का। बाकी बच एक, वह आपके क्रिया-कर्म के लिए।’ (पृष्ठ 207)

इस प्रसहनात्मक अंश और उसके तेवर से किसानों के शोषकों के प्रति प्रेमचन्द की सोच क्या थी, इसे आसानी से समझ सकते हैं।

सामान्य भाषा का ‘गोदान’ की भाषा जैसा समर्थ और प्रभावशाली रूप कथा-साहित्य में दुर्लभ और दुष्कर ही माना जायेगा।

‘गोदान’ में कथा कहने का कोई चमत्कारी रूप प्रेमचन्द ने नहीं अपनाया है। इस उपन्यास में कथा प्रेमचन्द ने ऐतिहासिक कथा-शैली में प्रस्तुत की है जिसमें घटनाएँ वर्तमान से प्रारंभ होकर भविष्य की दिशा में अग्रसर होती हैं और एक तर्क सम्मत अन्त तक पहुँचती हैं। कथाक्रम को जोड़ने के लिए हमें कोई मानसिक व्यायाम नहीं करना पड़ता। न इसमें पूर्वदीप्ति (फ्लैशबैक) हैं; न इसमें अपसामान्य मनोविज्ञान-जनित चेतनाप्रवाह है; न मुक्त आसंग का चमत्कार है; आत्मकथात्मकता है; न दैनन्दिनी शैली है; न पत्र शैली है या इसी प्रकार को कोई अन्य चमत्कारपूर्ण शिल्पगत प्रयोग है। क्यों? क्या इसलिए कि प्रेमचन्द के समय तक ये शिल्पगत प्रयोग फैशन में नहीं आये थे या इसलिए कि प्रेमचन्द में ऐसी क्षमता नहीं थी? नहीं ऐसा नहीं है। प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में शिल्पगत प्रयोग किये हैं। उनका उपन्यास ‘कायाकल्प’ शिल्पगत प्रयोग का उदाहरण है और प्रेमचन्द के प्रौढ़काल का सबसे असफल उपन्यास है। नन्द दुलारे वाजपेयी ने अपने ‘प्रेमचन्द’ शीर्षक निबंध में लिखा था—‘प्रेमचन्द के साहित्य को उनके व्यक्तित्व की पूरी सहानुभूति और सहयोग प्राप्त हुए हैं।... कथानक, चरित्र, विचारसूत्र और कला की निर्मिति में प्रेमचंद प्रथम श्रेणी के औचन्यसिकों की ऊँचाई पर नहीं पहुँचे, किन्तु हिन्दी उपन्यास के आरंभिक युग के लिए उनकी देन बड़ी महत्वपूर्ण है।’ किन्तु फुटनोट में उन्होंने यह भी जोड़ा कि ‘प्रेमचन्द जी का ‘गोदान’ उपन्यास प्रकाशित हो जाने पर हमारी इस धारणा में परिवर्तन हुआ है।’ (हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी); संस्करण, 1963; पृष्ठ 94-95 निःसंदेह प्रेमचन्द के उपन्यासों में वस्तुगत और शिल्पगत कमजोरियाँ हैं; गोदान भी इससे पूर्णतः

मुक्त नहीं है। 'गोदान' ही क्यों हर रचना में कुछ-न-कुछ कमजोरियाँ होती है। पूर्णतः निर्दोष कोई रचना नहीं होती। लेकिन यह तो मानना पड़ेगा कि 'गोदान' में वस्तुगत औदात्य है और एक सीमा तक शिल्पगत परिपक्वता भी। इसलिए उसे श्रेष्ठ उपन्यास का सम्मान मिला है।

संदर्भ ग्रंथ

1. गोदान-संस्करण, 1972
2. गोदान-विमर्श-संपादक डॉ. ज्ञानचन्द गुप्त
3. गोदान-नया परिप्रेक्ष्य-डॉ. गोपाल राय
4. गोदान-संरचनात्मक विश्लेषण-डॉ. त्रिलोकीनाथ खन्ना
5. प्रेमचन्द-डॉ. रामविलास शर्मा
6. प्रेमचन्द-नन्ददुलारे वाजपेयी
7. हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी-नन्द दुलारे वाजपेयी
8. प्रेमचन्द-जीवन, कला और कृतित्व-हंसराज रहबर
9. हिन्दी उपन्यास-विशेषतः प्रेमचन्द-नलिन विलोचन शर्मा
10. नलिन विलोचन शर्मा-संकलित निबंध-संकलन गोपश्वेर सिंह
11. प्रेमचन्द-एक विवेचन-डॉ. इन्द्रनाथ मदान
12. प्रेमचन्द के उपन्यासों का शिल्पविधान-डॉ. कमलकिशोर गोयनका।

महत्त्वपूर्ण व्याख्या-अंश

1. वैवाहिक जीवन के प्रभात में नहीं पहुँचता। (परिच्छेद 4)
2. द्वेष का माया जाल भय नहीं। (वही)
3. भाई, मैं प्रश्नों का कायल नहीं स्वार्थ से भरा हुआ। (परिच्छेद 6)
4. मानता हूँ आपका जो वास्तव में एक है। (वही)
5. मैं इसे स्वीकार लज्जास्पद भी। (वही)
6. हम अपने आसामियों सत्वहीन और मोहताज। (वही)
7. जी हाँ, मानता हूँ स्थायी न बन सकी। (वही)
8. धन को आप और हमेशा करेगी। (वही)
9. बुद्धि अगर तोड़ देना चाहता है। (वही)
10. सामने की पर्वतमाला स्थान नहीं पाता। (परिच्छेद 7)

11. मेरे जेहन में औरत अर्पण कर दूंगा। (परिच्छेद 13)
12. मैं प्राणियों के विकास में करती चल जाती है। (परिच्छेद 15)
13. देवियों, मैं उन लोगों में त्याग एक तरफ। (वही)
14. मैं आपसे पूछता हूँ जो मोती चुगता है। (वही)
15. वोट नये युग कारक्त निकाला जाता है। (वही)
16. संसार में सबसे बड़े हो सकती है। (वही)
17. जिसे तुम प्रेम कहती हो डूब जायेगी। (वही)
18. मैं प्रकृति का पुजारी हूँकोल्हू है। (परिच्छेद 18)
19. नारी केवल माता है नारीत्व का भी। (वही)
20. अज्ञान की भाति मुश्किल हो जाता है (परिच्छेद 30)
21. प्रेम में कुछ मान ध्वंस हो जाता है। (परिच्छेद 33)
22. जब तक ममत्व है क्या आदेश देते हो। (वही)

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. 'गोदान के मूल प्रतिपाद्य का विवेचन करते हुए उसके शीर्षक की सार्थकता पर विचार कीजिए।
अथवा
'गोदान' किसान के मजदूर बनने की त्रासदी है।' स्पष्ट कीजिए।
अथवा
"‘गोदान’ सामन्तवादी व्यवस्था के क्षरण और पूँजीवादी व्यवस्था के वर्चस्व की स्थापना की कथा है।" सिद्ध कीजिए।
2. "‘गोदान’ की संरचना दोषपूर्ण है।"
अथवा
"‘गोदान’ में नगर-कथा आरोपित और इसलिए व्यर्थ है।" क्या आप इससे सहमत हैं?
3. 'गोदान' महाकाव्य उपन्यास है।' इस कथन की समीक्षा कीजिए।
4. 'गोदान' की औपन्यासिक विशेषताएँ (उपन्यास कला) स्पष्ट कीजिए।
5. चरित्र-चित्रण-
होरी, धनिया, गोबर, प्रो. मेहता, मिस मालती, गोबिन्दी, खन्ना, राय साहब।
6. 'गोदान' की भाषा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए और उसकी विशिष्टताएँ बताइये।

इकाई-2 : मैला आँचल: फणीश्वरनाथ 'रेणु'

(क) आँचलिकता

—डॉ. सुरेन्द्रनाथ तिवारी

पूर्व रीडर, हिन्दी विभाग, सत्यवती कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

कृति और कृतिकार

'मैला आँचल' हिन्दी कथा-साहित्य की विशिष्ट कृति है, कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से। 'मैला आँचल' के लेखक फणीश्वरनाथ 'रेणु' इस प्रकार विशिष्ट उपन्यास कार हैं। लेखक के ही शब्दों में 'मैला आँचल' एक आँचलिक उपन्यास है। कथानक है पूर्णिया। पूर्णिया बिहार राज्य का एक जिला है। इसके एक ओर नेपाल, दूसरी ओर पाकिस्तान और पश्चिमी बंगाल। विभिन्न सीमा रेखाओं से इसकी बनावट मुकम्मल हो जाती है, तब हम दक्खिन में संथाल परगना और पश्चिम में मिथिला की सीमा रेखा खींच देते हैं। यह आलोच्य कृति का अति संक्षिप्त परिचय है। प्रेमचन्द के बाद गाँव की जिन्दगी का इतना विस्तार के साथ सूक्ष्म चित्रण नये शिल्प में पहली 'रेणु' के द्वारा किया गया। फणीश्वरनाथ 'रेणु' का परिचय देते हुए उनके दूसरे उपन्यास 'परती-परिकथा' के आवरण पृष्ठ पर लिखा है कि 'सोशलिस्ट पार्टी' के सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में राजनीतिक कार्य किया, फिर बीमार रहे, 1953 में आरोग्य लाभ के बाद राजनीति को पूर्ण रूप से तिलांजलि देकर लेखन कार्य में प्रवृत्त हुए।'

साहित्यिक कृतित्व

'मैला आँचल' के बाद 'रेणु' का दूसरा उपन्यास 'परती परिकथा' है। 'मैला आँचल' तथा 'परती परिकथा' की कथा में लगभग दस वर्ष का अंतराल है। इसलिए दोनों उपन्यासों का अंचल एक होने पर भी तथा वैसे ही लोग और वैसे ही बोली होने पर भी वहाँ के जीवन पर स्वाधीन भारत में होने वाले सामाजिक-राजनीतिक जीवन की स्पष्ट छाप है। 'परती परिकथा' की परती भूमि तथा कोसी के अंचल में आबाद जन-जीवन को सचित्र रूप में उपस्थित किया गया है। उस अंचल का सबसे उन्नत गाँव परानपुर लेखक ने कथा का केन्द्र बनाया है। सात-आठ हजार की आबादी में दो एम.ए., आठ ग्रेजुएट, एक शास्त्री, पचास मैट्रिकुलेट तथा एक सौ मिडिल पास लोगों का होना गाँव की तरक्की का द्योतक है। नयी योजनाएँ लागू की जा रही हैं। गाँवों का नव-निर्माण हो रहा है। स्वतंत्र भारत में। फिर भी गाँव टूट रहे हैं? या नहीं तरह से आबाद हो रहे हैं? कई तरह के प्रश्न उभरते हैं। 'घूसर वीरान अन्तहीन प्रान्तर। पतिता, भूमि, परती जमीन वंध्या धरती...। धरती नहीं, धरती की लाश, जिस पर कफन की तरह फैली हुई है बालूचर की पंक्तियाँ।...दूर दिल्ली में बैठा नदी घाटी योजना का एक नौवजवान विशेषज्ञ परानपुर की तकदीर को फिर से लिख रहा है।...गाँव के लोग परती पर बोई जाने वाली फसलों की कल्पना करते हैं। टुट्टी पाखर से लेकर सेमलबनी तक नई जाति का पाटा। टुट्टी पाखर से उत्तर मकई और बाजरे की खेती! पुलक उठते हैं वे लोग। जमीन सर्वे में भी जिन्हें एक घूर जमीन नहीं हालिस हुई उन्हें भी जमीन मिलेगी, बिना झंझट को।...

देहाती कच्ची सड़क के गड्ढे, खाई और आंक-बांक को समतल बनाती हुई बड़ी-बड़ी मशीनें आई हैं। गाँव वालों के चेहरों पर अब आतंक के चिन्ह अंकित नहीं होते। सेमलबनी के आकाश में अबीर गुलाल उड़ रहा है। आसन्न प्रसवा परती हंसकर करवट लेती है। 'परती परिकथा' की इस कथावस्तु के कोसी के आँचल में लोगों की कितनी ही आशाएँ-आकांक्षाएँ निहित हैं। इस परिकथा में पूरा आँचल समाया हुआ है। गीत-संगीत तथा नृत्य के माध्यम से ध्वनित होने वाली लोक संस्कृति, योजनाबद्ध कार्यक्रम, जमींदारी उन्मूलन आदि के महत्त्वपूर्ण चित्रण हैं। उपन्यास के अंतर्गत अनेक परिकथाएँ हैं जिनमें उपन्यास के नायक जितेन्द्रनाथ उर्फ जितन और उसकी अंग्रेज 'माँ की कहानी भी है। लेखक ने अनेक रेखाचित्रों के माध्यम से अंचल को अभिव्यक्त किया है। जमींदारी खत्म हो गई, सेमलबनी पर सरकार का कब्जा हो गया' लेकिन इस गाँव के सामने फैली विशाल परती की डेढ़ हजार बीघे जमीन का मालिक, अकेला वही है।' यानी कि जितन। यह कथा जितन और उसकी जमीन के इर्द-गिर्द घूमती है। परती में ही नहीं जितेन्द्रनाथ उर्फ जितन के भीतर भी है। जिसके लिए तीन सौ रुपये महावर खर्च करना होता है। 'तीन सौ रुपये प्रतिमास शराब के लिए देना पड़ता है, शाह कंपनी वालों को।' जितन का विरोधी औ कथा का खलनायक है लुत्तो। परती जमीन को हरा भर करने पर गाँव वाले जितन का विरोध करते हैं पर बाद में गलती महसूस करते हैं। इस प्रकार जितन तथा कुछ सरकारी कर्मचारियों के प्रयास से यह भ्रांति हो जाती है। 'मैला आँचल' तथा 'परती परिकथा' के बाद 'रेणु' ने 'दीर्घतया' तथा 'जूलूस' की रचना की। 'मैला आँचल' तथा 'परती-परिकथा' के समान ये कृतियाँ अपना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं बना सकीं। इस बीच आँचलिकता की भाषा को लेकर अच्छा विवाद उठ खड़ा हुआ। 'दीर्घतया' की भूमिका में 'रेणु' ने आँचलिक उपन्यास की परिभाषा को व्याख्यायित किया है। 'जूलूस' में पूर्वी पाकिस्तान से भागकर बिहार में बसने वाले बंगाली शरणार्थियों तथा उनके पड़ोसी गोढ़ियार के गाँव के लोगों के पारस्परिक संपर्क की कथा है। इसमें दो भिन्न बंगाली मान्यताओं तथा रीति-रिवाजों को मानने वाले वर्गों की समस्याओं को प्रकट किया गया है।

उपन्यासों के अतिरिक्त 'रेणु' ने कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं। जिनमें अधिकांश आँचलिक हैं। कस्बे की लड़की तथा 'तीसरी कसम' उर्फ मारे गये गुलफाम' उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

'मैला आँचल' (परिचय)

'मैला आँचल' का कथा-क्षेत्र मेरीगंज है। नील की खेती से संबद्ध किसी अंग्रेज अफसर डब्ल्यू.जी. मार्टिन की पत्नी का नाम जब इस जनपद से जुड़ गया तो लोग उसका पुराना नाम भूल गये। मेरी, मार्टिन की नई पत्नी थी और जिसके लिए मार्टिन ने कोठी बनवाई थी, बहुत दिन उसमें नहीं रह सकी। मेरी को मलेरिया ने ऐसा धर दबाया कि वह परलोक सिधार गई। मार्टिन उसके वियोग में पागल होकर मर गया और उसी के साथ भारत में नीलयुग का अन्त भी हो गया। मार्टिन जब तक जीवित रहा, मेरीगंज में मलेरिया सेंटर खुलवाने की प्रयास करता रहा। इस पृष्ठभूमि में बिहार के पूर्णिया जिले के ग्रामीण अंचल के मेरीगंज गाँव के लोगों की कथा की शुरुआत उपन्यास में की गई है।

उपन्यास में प्रारंभ में ऐसा लगता है कि मेरीगंज एक सोया हुआ गाँव था। यहाँ तक कि स्वाधीनता आंदोलन के बीच 1942 में घटित होने वाली घटनाओं का कोई प्रभाव उसके ऊपर नहीं पड़ा। केवल अफवाहों के रूप में कुछ खबरें वहाँ तक पहुँची थी। लेकिन स्वतंत्रता मिलने के कुछ वर्ष पहले इस सोये हुए अंचल में कुछ हलचल होने लगी। और जन-जीवन बदलने लगता है। बदलती हुए परिदृश्य को लेखक गाँव में आए हुए मलेरिया सेंटर बनाने वाले सरकारी कर्मचारियों के द्वारा दिखाता है। यहीं से लेखक कथा-सूत्र को पकड़ता है, कोसी के अंचल में पले मेरीगंज के आसपास की भौगोलिक चित्र उपस्थित करता है, 'नवाबी तड़बन्ना' यानी की 'ताड़ बन' दिखाता है। 'तड़बन्ना के बाद ही एक बड़ा मैदान है, जो नेपाल की तराई से शुरू होकर गंगाजी के किनारे खत्म हुआ है। लाखों एकड़ जमीन। वंध्या धरती का विशाल अंचल। इसमें दूध भी नहीं पनपती है। बीच-बीच में बालचर और कहीं-कहीं बेर की झाड़ियाँ। कोस भर मैदान पार करने के बाद पूरब की ओर काला जंगल दिखाई पड़ता है—वहीं हैं मेरीगंज की कोठी।'

मेरीगंज एक पिछड़ा हुआ गाँव है। अनेक कथाओं, परिकथाओं, रूढ़ियों, संस्कारों, तथा अंधविश्वासों से यह गाँव घिरा हुआ है। मेरीगंज में कई जाति और वर्ण के लोग रहते हैं। लेखक ने इस अंचल को लोकसंस्कृति और लोकजीवन को उभारा है। 'मेरीगंज' एक बड़ा गाँव है। 'बारहो बरन' के लोग रहते हैं। लेखक ने गाँव के लोगों के बीच पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष के साथ-साथ राजनीतिक प्रभाव को भी चित्रित किया है। प्रस्तुत उद्धरण से उपन्यास रचना की पृष्ठभूमि एकदम स्पष्ट हो जाती है—'राजपूतों और कायस्थों में पुश्तैनी मन-मुटाव और झगड़े होते आए हैं। ब्राह्मणों की संख्या कम है, इसलिए वे हमेशा तीसरी शक्ति का कर्तव्य पूरा करते हैं। अभी कुछ दिनों से यादवों के दल ने भी जोर पकड़ा है।' इन सभी दलों के अपने-अपने मुखिया और नेता हैं। गाँव की संरचना का यह जातिगत आधार परंपरा से मिला है। जातिगत आधार पर बने इन गुटों में परस्पर निरंतर संघर्ष की स्थिति रहती है। अपनी जाति और अपने गुट के स्वार्थों में डूबे हुए मेरीगंज के लोग न तो अपना विकास कर पाते हैं और न गाँव का। जातिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर सोचने की शक्ति उनमें नहीं है। इन लोगों के बीच शिक्षा की हालत यह है—“सारे मेरीगंज में दस आदमी पढ़े-लिखे हैं। पढ़े-लिखे का मतलब हुआ—अपना दस्तखत करने से लेकर तहसीलदारी करने तक की पढ़ाई। नये पढ़ने वालों की संख्या है पंद्रह।”

'मैला आँचल' में लेखक ने आँचलिक समाज की विसंगतियों को उद्घाटित करने के लिए उसके हर पहलू को पकड़ा है। मठ के महन्तों के चरित्र तथा मठों में व्याप्त व्यभिचार को उपन्यास में अनेक स्थलों पर अंकित किया गया है। सेवा दास इस इलाके के ज्ञानी साधू समझे जाते थे। सभी शास्त्र-पुरान के पण्डित। मठ पर आकर लोग भूख प्यास भूल जाते थे। बड़ी पवित्र जगह समझी जाती थी। लेकिन बाबा होकर भी वे खेलिन रखते हैं और रामदास खेलिन रखने के लिए लक्ष्मी की खुशामद करता है। उस सबके बीच सामन्ती व्यवस्था का अत्याचार मेरीगंज की गरीब और लाचार जनता की ट्रेजड़ी को कई गुना बढ़ा देता है। तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद इन अत्याचारों में माहिर है।

सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के बीच मेरीगंज के लोगों पर राजनीतिक प्रभाव भी पूरी तरह व्याप्त है। लगभग सभी कांग्रेस, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ तथा वामपंथी दलों के कार्यकर्ता और कार्यक्रम में मेरीगंज आंदोलित है। बालदेव, बावनदास, कालीचरन, जैसे कार्यकर्ता होने पर भी मेरीगंज की जनता ने राजनीति को ऊपरी तौर पर लिया है। शायद उन्हें कोई अपना नेता नहीं मिला। उनकी राजनीति का मूल आधार जातिवाद है। इन परिस्थितियों के बीच मलेरिया सेंटर में डॉक्टर प्रशांत कुमार का आना तथा गाँव की जिंदगी में घुलमिल जाना एक नयी चेतना का परिचायक हैं। “डॉक्टर पर यहाँ की मिट्टी को मोह सवार हो गया। उसे लगता है, मानो वह युग-युग से इस धरती का पहचानता है।” उसने गाँव की जिन्दगी को बहुत करीब से देखा और उससे अधिक उसकी गरीबी को। उसे लगा कि गाँव की असली बीमारी गरीबी है। मलेरिया से मुक्ति का संघर्ष नगण्य हो गया। उस गरीबी के बीच 'कमला' उसे 'राजकमल' लगी। उसने अपनी अपरिमित सहानुभूति उंडेल दी उस गाँव वालों के लिए। लेकिन स्वतंत्र भारत में उसे कम्युनिस्ट करार देकर गिरफ्तार कर लिया गया। 'मैला आँचल' में लेखक ने समाज के कई स्तरों, परतों को खोला। एक अंचल में पनपने और समाप्त होने वाले स्त्री पुरुषों के संबंधों को कई युगों के द्वारा बारीकी से प्रस्तुत किया है। दफा चालीस के अंतर्गत किसानों को जमीन ने मिलने और उनके संघर्ष को प्रदर्शित किया है। स्वाधीनता के बाद जनता की आशाएँ पूरी नहीं हुई। जमींदारी खत्म हुई लेकिन जमीन किसकी बढ़ गई तहसीलदार साहब की। भूमि पर किसान का अधिकार नहीं। और फिर एक तसवीर उभरती है—“बेजमीन आदमी, आदमी नहीं। यह तो जानवर है।” भ्रष्टाचार बढ़ गया। स्वाधीनता आंदोलन के विरोधी पदाधिकारी बन गये। डाकू-लूटेरे राजनेता बनने की घात में है। ईमानदार मारे जा रहे हैं। उपन्यास में अनेक पर्व, त्योहारों, उत्सवों तथा परंपराओं का मार्मिक वर्णन है। लेकिन उसने हर जगह महसूस किया है कि “पुश्त-पुश्तैनी से जो रीति-रिवाज' गाँव में चल रहा है उसको एक बार ही बदल देना आसान नहीं।

आँचलिकता : प्रवृत्ति का स्वरूप

हिन्दी में 'अंचल' या आँचलिकता पर विशेष चर्चा की शुरुआत सन् 1945 में प्रकाशित 'मैला आँचल' के बाद से हुई इसलिए एक बात तो स्पष्ट है कि आँचलिकता का विश्लेषण आँचलिक उपन्यासों से जुड़ा है। लेकिन आँचलिक उपन्यासों की विशेषताएँ तथा 'मैला आँचल' को विशिष्ट स्थिति को समझने के लिए अंचल तथा आँचलिक का विश्लेषण भी आवश्यक है।

अंचल का शाब्दिक अर्थ साड़ा का पल्ला है, किनारा अथवा सीमा समीपवर्ती भाग होता है। अंचल को आँचल के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है। इसी के अनुसार आँचलिक का अर्थ किसी देश या प्रान्त भाग से संबंधित वस्तु विशेष से होता है। इस प्रकार कोई ऐसा भूभाग जिसकी अपनी संस्कृति हो, अपनी बोली हो भाषा हो तथा अपने-रूप-रूपक में विशिष्ट आभास दे, अंचल कहा जा सकता है। इस प्रकार अंचल एक विशिष्ट इकाई होती है जिसका समय जीवन उनके अपने रहन-सहन में बंधकर जीवन के उल्लास और वेदना का गीत, संगीत नृत्य उत्सव तथा त्योहार में व्यक्त करता हो। इस प्रकार एक ही समस्याओं से जुड़ते हुए अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति में अंचल आबाद होते हैं। पर्वत श्रेणियाँ या तलहटी, नदियों की घाटियाँ, सागर तट, जंगल के बीच या पठार पर आबाद, प्रायः नगरों के कोलाहल से दूर ग्राम समुदायों को अंचल या आँचलिक से बोध कराया जा सकता है। फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने नेपाल की तराई यथा कोशी नदी के किनारे ताड़बन और खजूर के पेड़ों से भरा जंगल, "लाखों एकड़ जमीन! वंध्या धरती का विशाल अंचल।" को 'मैला आँचल' में चित्रित किया गया है। "परती परिकथा" का भी यहीं अंचल है। नागार्जुन ने "वलचनमा", "नयी पौध" आदि अपने उपन्यासों में मिथिला के जनपदीय जीवन को लिया है। देवेन्द्र सत्यार्थी के उपन्यास "ब्रह्मपुत्र" में ब्रह्मपुत्र नदी के आसपास का परिसर है।

वस्तुतः अंचल की कुछ विशेषताएँ होती हैं जो उसे आँचलिकता का स्वरूप प्रदान करती हैं। लेकिन आँचलिकता, प्रादेशिकता अथवा क्षेत्रीयता से भिन्न होती है। इस अंतर को प्रस्तुत उद्धरण में स्पष्ट किया गया है। प्रत्येक अंचल एक प्रदेश हो सकता है। परंतु प्रत्येक प्रदेश एक अंचल हो यह आवश्यक नहीं। प्रादेशिकता एक नहीं, अनेक कारणों से आ सकती है और प्राकृतिक विशेषताओं का परिणाम भी हो सकता है। कोई प्रदेश अपने पहाड़ों नदियों, जलवायु, भूमि, खनिज, वन अथवा फसलों के कारण प्रमुखता प्राप्त कर सकता है। एक आर्थिक प्रदेश, संपूर्ण प्राकृतिक प्रदेश अथवा उसके भाग मात्र से भी निर्मित हो सकता है। सांस्कृतिक, ऐतिहासिक या राजनीतिक प्रदेश भी भिन्न आबारों पर बांटे जा सकते हैं। रुचि और उद्देश्य भी उनके विभाजन का आधार बन सकते हैं। इस प्रकार प्रदेश में निर्माण में विरोधी अथवा सहयोगी रुचियों का सहयोग रहता है। (दि वर्डबुक एनसाइक्लोपिडिया खण्ड 15, पृष्ठ 198)। प्रदेश की तुलना में अंचल पिछड़ा हुआ होता है। उस पर परिवर्तन का प्रभाव देर से पड़ता है।"

शिवप्रसाद सिंह ने 'कल्पना' (मार्च 1965) में अपने निबंध "आँचलिकता और आधुनिक परिवेश" में 'अंचल' को स्पष्ट करते हुए लिखा है—जैसा इस शब्द से स्पष्ट है या भाव संज्ञा किसी क्षेत्र या अंचल से संबद्ध है। क्षेत्र या अंचल उस भौगोलिक खण्ड का कहते हैं जो सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से सुगठित और विशिष्ट एक ऐसी इकाई हो जिसके निवासियों के रहन-सहन, प्रथाएँ, उत्सव आदि आदर्श और आस्थाएँ, मौलिक मान्यताएँ तथा मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ परस्पर समान और दूसरे क्षेत्र के निवासियों से इतनी भिन्न हों कि इनके आधार पर यह क्षेत्र या अंचल विशेष, इसी प्रकार के दूसरे क्षेत्रों से एकदम अलग प्रतीत हो। इस प्रकार के अंचल या क्षेत्र के जीवन को अभिव्यक्त करने वाली रचना को हम आँचलिक कह सकते हैं।' यहाँ लेखक ने क्षेत्र और अंचल या क्षेत्र को एक मान लिया है। दरअसल क्षेत्र में कई अंचल आबाद हो सकते हैं यानी कि भिन्न संस्कृतियों तथा भिन्न रहन-सहन तथा बोली-बानी के लोग। जबकि एक अंचल अपनी विशेषताओं में पूर्ण इकाई होता है। अंग्रेज उपन्यासकारों ने ग्राम जीवन को आधार बनाकर जो रचनाएँ लिखी हैं, उनमें प्रदेश और क्षेत्र का ही चित्रण मिलता है अंचल विशेष का

नहीं। उदाहरण के लिए टामस हाडी के 'विसेक्स' में वैसेक्स तथा अरनाल्ड बेनेट के उपन्यासों में फाइव-टाउन्स के प्रदेशों का चित्रण हुआ है। बंगला उपन्यासकार ताराशंकर वंद्ययीपाध्याय के 'गणदेवता' में भी ग्राम समाज का चित्रण प्रादेशिक परिवेश में किया गया है।

आँचलिकता के संदर्भ में स्थानीय रंग का प्रश्न भी उठाया जाता है। इस संबंध में शिपले के विचार द्रष्टव्य है—“प्रादेशिक कलाकार उस प्रदेश में उन विभिन्न स्थितियों पर ध्यान देता है जो वहाँ के निवासियों के जीवन पर गहरा प्रभाव डालती है और इस प्रकार संस्कृति एवं प्रवृत्ति का एक भिन्न रूप विकसित करती है। स्थानीय रंग-सेटिंग, बोली, वेश-भूषा, प्रथाओं के अनावश्यक तत्त्वों को कथ्य के प्रमुख रूप में नहीं सजावट के रूप में प्रस्तुत करता है।” (जोसेफ टी. शिपले-*डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेरी टर्म्स*, पृ. 257)

इस प्रकार स्थानीय रंग, कथा का मूल तत्त्व न होकर उसे आवरण को सज्जित करने वाला उपकरण बन जाता है। स्थानीय रंग आँचलिकता का पर्याय नहीं होता क्योंकि आँचलिकता एक प्रवृत्ति होती है तथा कोई उपन्यासकार आँचलिकता को जब एक प्रेरक शक्ति में रूप में उभरती है तो आँचलिक उपन्यास कहलाता है।

आँचलिकता के अब तक के विवेचन से जो विशेषताएँ उभरती हैं उनके आधार पर आँचलिकता के सामान्य तत्त्वों का विश्लेषण किया जा सकता है।

(1) **भौगोलिक परिवेश**—किसी अंचल का भौगोलिक परिवेश उसकी आँचलिकता को स्वरूप प्रदान करने में महत्वपूर्ण तत्त्व होता है। प्रायः अंचल प्रकृति की रमणीय गोद में बसे होते हैं तथा महानगरों, नगरों या कस्बाई जिंदगी से विभिन्न होते हैं। इनका क्षेत्र सीमित होता है तथा पर्वत, नदी, वन, अथवा बंजर भूमि इनकी सीमाओं को संकुचित करते हैं। अंचल के लोगों के जीवन में उसकी प्रकृति का सहज साहचर्य होता है।

(2) **सामाजिक पिछड़ापन**—भौगोलिक परिस्थितियों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं से ही अंचल के सामाजिक जीवन का संचालन होता है। यही कारण है कि किसी अंचल का जीवन विशिष्ट दिखाई पड़ता है। एक छोटे समाज के अंदर अनेक वर्ण तथा वर्ग मिलते हैं। जिनकी अलग-अलग मान्यताएँ होती हैं। जन्मोत्सव से लेकर अन्त्येष्टि तक उनकी विशिष्ट परंपराएँ होती हैं। वैवाहिक पद्धतियाँ आचार-विचार तथा स्त्री-पुरुषों के संबंधों पर भिन्न-नैतिक, धार्मिक दृष्टिकोण होते हैं। सामाजिक दृष्टि से पिछड़ापन इतना अधिक होता है कि अंचल के लोग निरंतर गरीबी से जूझते हैं और अंधविश्वासों को पालते रहते हैं।

(3) **लोक संस्कृति**—अंचल के लोगों की अपनी विशिष्ट संस्कृति ही उनकी सबसे बड़ी पूंजी है जिसमें सहजता और स्वाभाविकता के साथ-साथ आकर्षित करने वाली कलात्मकता होती है जिसकी अभिव्यक्ति गीत-संगीत-नृत्य तथा उत्सव-समारोहों में देखी जा सकती है।

(4) **नव चेतना**—राष्ट्रव्यापी हलचलों का प्रभाव अंचलों के जीवन में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यद्यपि अपने समग्र रूप में वे पिछड़ेपन से घिरे हुए हैं लेकिन कहीं सरकारी योजनाओं के क्रियान्वित होने से तथा कहीं राजनीतिक दलों के कार्यकर्ताओं के द्वारा नई चेतना की लहर नगरों से दूर ग्रामीण अंचलों में व्याप्त होने लगी है। इसी के परिणामस्वरूप कहीं-कहीं ग्रामीण अंचलों में वर्ग-संघर्ष की स्थितियाँ भी उत्पन्न हुई हैं। इस प्रकार सामाजिक चेतना के संकेत आँचलिकता की विशेषता बन जाते हैं। यही कारण है कि अंचल बदलते हुए दिखाई पड़ते हैं।

आँचलिकता और 'मैला आँचल'

हिन्दी उपन्यास साहित्य में अपनी आँचलिक प्रवृत्तियों के कारण 'मैला आँचल' ने एक नयी दिशा की ओर संकेत करने वाला महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। आँचलिकता का निर्माण करने वाले सभी तत्त्व 'मैला आँचल' में

विद्यमान हैं। वस्तुतः आँचलिकता के संपूर्ण अर्थों में यह एक आँचलिक उपन्यास है। 'मैला आँचल' के विश्लेषण से उसकी इन विशेषताओं को स्पष्टतः देखा जा सकता है।

'मैला आँचल' प्रकृति में बसे एक पिछड़े समाज का चित्रण है। 'मैला आँचल' के समाज के पिछड़ेपन पर उसकी भौगोलिक स्थितियों का गहरा प्रभाव है। लेखक ने जिस आँचलिक जन-जीवन को रचना का केन्द्र बनाया है, उसके प्राकृतिक परिवेश तथा भौगोलिक स्थिति को उपन्यास के अंतर्गत कई स्थलों पर रेखांकित किया है। वस्तुतः उपन्यास के प्रारंभ में ही अंचल ही भौगोलिक रूपरेखा खींच दी गई है जिससे अंचल का प्राकृतिक स्वरूप चित्रित उपस्थित हो जाता है। 'पूर्णिया जिले का गाँव मेरीगाँव रौतहट स्टेशन से सात कोस दूर है। यानी कि नगर या कस्बे के आधुनिक जीवन की छाया से दूर आबाद है। और फिर 'बूढ़ी कोशी के किनारे-किनारे बहुत दूर तक ताड़ और खजूर के पेड़ों से भरा हुआ जंगल है। इस अंचल के लोग इसे नवाबी तड़बन्ना कहते हैं।' इस ताड़बन में बैशाख से लेकर आषाढ़ तक आसपास के हलवाहे-चरवाहे भी ताड़ी पीकर नवाबी करते हैं—“तीन आने लबनी ताड़ी, रोक साला मोटर गाड़ी।” अर्थात् ताड़ी के नशे में आदमी मोटर गाड़ी को भी सस्ता समझता है। इसके बाद नेपाल की तराई और गंगा के किनारे की वह लाखों एकड़ जमीन जो किसी प्रकार की उपज से रहित है। उसके 'कोस भर मैदान पार करने के बाद पूरब और काला जंगल दिखाई पड़ता है—वहीं है मेरीगंज की कोठी।” मेरीगंज की इस कोठी को, जिसके आसपास वीरान जंगल पनप चुका है, जो “झरवेर के घने जंगलों के बीच ईट-पत्थरों का ढेर” मात्र रह गई है, गौना करके नई दुल्हन के साथ लौटता हुआ नौजवान गाड़ी रोकर अपनी नववधू को दिखाना नहीं भूलता। यहीं पर “गंगा स्नान करके लौटते हुए तीर्थ यात्रियों की बैलगाड़ियाँ कुछ देर तक रुक जाती हैं। गाड़ियों से युवतियाँ और बच्चे निकलकर डरते-डरते खण्डहरों के पास जाते हैं। बूढ़ियाँ जंगलों में जंगली जड़ी बूटी खोजती हैं....।”

यह है मेरीगंज का भौगोलिक परिवेश। 'बूढ़ी कोशी' यानी नदी जो पानी के लिए तरसती रहती है और भूभाग जो अंचल के लोगों को पेट भरने तक का खाद्यान्न नहीं दे पाता और ताड़बन। लेकिन इस परिवेश से जुड़ी हुई है उस अंचल के लोगों पर उसका प्रभाव कितना घनिष्ठ है, इसे ऊपर के उद्धरणों में देखा जा सकता है। लेकिन गाँव की भौगोलिक स्थिति अभी पूरी नहीं हुई “गाँव के पूरब एक धारा है जिसे कमला नदी कहते हैं। बरसात में कमला भर जाती है, बाकी मौसम में बड़े-बड़े गढ़ों में पानी जमा रहता है। मछलियाँ और कमल के फूलों से भरे हुए गढ़े! पौष पूर्णिमा के दिन इन्हीं गढ़ों में कोशी स्नान के लिए सुबह से शाम तक भीड़ लगी रहती है।” इस प्रकार लेखक ने उपन्यास की भूमिका में जो सीमा रेखा खींची है, वह एकदम उभरकर सामने आ जाती है। इस भौगोलिक परिवेश के साथ गाँव वालों की कितनी ही मान्यताएँ और अंधविश्वास जुड़े हुए हैं। प्रकृति के साथ उनके सहज साहचर्य को भी देखा जा सकता है। कमला नदी के महत्त्व के सम्बन्ध में कितनी ही तरह की कहानियाँ गाँव वालों के बीच प्रचलित हैं—“गाँव में किसी के यहाँ शादी-ब्याह या श्राद्ध का भोज हो, गृहपति स्नान करके, गले में कपड़े का खूंट डालकर, कमला मैया को पान-सुपारी से निर्मात्रित करता था। इसके बाद पानी में हिलोरें उठने लगती थीं, ठीक जैसे नील के हौज में नील मथा जा रहा हो फिर किनारे पर चांदी के थालों, प्यालों, कटोरों और गिलासों का ढेर लग जाता था। गृहपति सभी बर्तनों को गिनकर ले जाता था और भोज समाप्त होते ही कमला मैया को लौटा आता था। लेकिन सभी की नीयत एक जैसी नहीं होती। एक बार एक गृहपति ने कुछ थालियाँ और कटोरे चुरा रखे। बस उसी दिन से मैया ने बर्तनदान बंद कर दिया और उस गृहपति का तो वंश ही खत्म हो गया—एकदम निर्मूल।”

गाँव के बाहर स्थित नील कोठी के आसपास का भू-भाग विशेष भौगोलिक स्थिति का परिचायक है—“कोठी के बगीचे में, अंग्रेजी फूलों में जंगल में आज भी मैरी की कब्र मौजूद है। कोठी की इमारत ढह गई है। नील के हौज टूट-फुट गये हैं। पीपल, बबूल तथा अन्य जंगली पेड़ों का एक घना जंगल तैयार हो गया है। लोग उधर दिन में भी नहीं जाते। कमली आम का बाग तहसीलदार साहब ने बन्दोबस्त में ले लिया है। इसलिए आम का बाग साफ-सुथरा है। किन्तु कोठी के जंगल में तो दिन में भी सियार बोलता है।”

अंचल की इस भौगोलिक स्थिति को पूर्णता प्रदान करती है। पश्चिम में मिथिला की सीमा रेखा तथा दक्षिण में बसा संथाल परगना। 'मैला आँचल' का यह सीमावर्ती भू-भाग भी वन्य जीवन से मुखर है संथाली स्त्रियों के चित्रण में यह बात स्पष्ट हो जाती है—“कोठी के जंगल में संथालिनें लकड़ी काट रही हैं। कुछ दिन पहले इसी जंगल में संथालिनों ने एक बाघ को कुल्हाड़ी और दाब से मार दिया। शोरगुल सुनकर गाँव के लोग जमा हो गये थे। मरे हुए बाघ को देखकर लोगों के रोंगटे खड़े हो गये थे और बहुत तो भाग खड़े हुए थे, किन्तु संथालिनें हमेशा की तरह मुस्करा रही थीं।”

इस प्रकार 'मैला आँचल' का यह अंचल अपनी भौगोलिक स्थितियों के कारण राष्ट्रीय जीवन से विच्छिन्न अपने में एक पूर्ण इकाई बनाता हुआ भूभाग दिखाई पड़ता है। अंचल में व्याप्त प्रकृति उसे रूप और रंग देती है—“चैत की गोधूली में अपनी सारी तेजी खोकर सूरज ने श्याम सलोनी संध्या के आँचल में अपना मुंह छिपा लिया था। दूर तक फैली हुई ताड़ों की पत्तियाँ—कुछ मटमैली, कुछ सिंदूरी—सी, पृष्ठभूमि में गर्दन ऊँची करके सूरज को अतल गहराई में डूबते देख रही थी। गाय और बैलों के साथ घर लौटते हुए चरवाहे सावित्री नाच का गीत गा रहे थे...।” इतना ही नहीं अंचल में आम से लदे हुए पेड़ भी हैं। लेकिन उनका वहाँ के मनुष्यों के साथ कैसा सान्निध्य है, देखा जा सकता है—“आम से लदे हुए पेड़ों को देखने के पहले उसकी आँखें इन्सान के उन टिकोलों पर पड़ती है, जिन्हें आम की गुठलियों के सुखे गूदे की रोटी पर जिंदा रहना है...।”

'मैला आँचल' का यह भौगोलिक चित्रण उसे विशिष्ट उपन्यास बनाता है। यद्यपि प्रेमचन्द के उपन्यासों से ही ग्रामीण समाज का उसके भौगोलिक परिवेश में प्रस्तुत करने की शुरुआत हो चुकी थी। लेकिन 'मैला आँचल' का भौगोलिक चित्रण उससे भिन्न है। 'मैला आँचल' में एक अंचल की भौगोलिक स्थितियों को वहाँ के जन-जीवन से अभिन्न रूप में सम्बद्ध प्रस्तुत किया है। अंचल के भौगोलिक वातावरण की देन हैं मलेरिया, कालाजार, तथा टायफायड, जिनसे मेरीगंज तथा उसके आसपास के लोग आजीवन आक्रांत रहते हैं। उसकी वंध्या, बंजर, परसी जमीन गाँव की गरीबी का प्रमुख कारण है। उस पर सामंती व्यवस्था के अत्याचार, जो भूमिहीन निर्धन लोगों के दुखों को कई गुना बढ़ा देते हैं। अंचल के किनारे बनने वाली नदी केवल बरसात में बहती है। इस सबके बीच ताड़बन की मरुभूमि में जलाशय की तरह दिखाई पड़ता है—

“बैशाख और जेठ महीने में शाम की 'ताड़बन्ना' में जिंदगी का आनन्द सिर्फ तीन आने बिकता है।”

चने की घुघनी, मुढ़ी और प्याज, तथा सफेद झाग से भरी हुई लबनी! खटमिट्टी, 'शंकरचिनियाँ' और 'बैरचिनियाँ' ताड़ी के स्वाद अलग-अलग होते हैं। बसन्ती पीकर बिरले पियक्कड ही होश दुरुस्त रख सकते हैं। जिसको गर्मी की शिकायत है, वह पहर रतिया पीकर देखें कलेजा ठण्डा हो जायेगा, पेशाब में जरा भी जलन नहीं रहेगी। कफ प्रकृति वालों को संझा पीनी चाहिए। रात भर देह गर्म रहती है।

साल भर के झगड़ों के फैसले तड़बन्ना की बैठक में होते हैं और मिट्टी के चुक्कड़ों की तरह दिल भी यही टूटते हैं। शादी-ब्याह के लिए दुल्हे-दुलहिन की जोड़ियों भी यही बैठकर मिलाई जाती हैं और किसी की बीवी को भगा ले जाने का प्रोग्राम भी यही बनता है।”

इस प्रकार 'मैला आँचल' में अंचल का भूगोल और प्रकृति का प्रभाव वहाँ सामाजिक जीवन में किस प्रकार व्याप्त है, देखा जा सकता है। वस्तुतः समाज अपनी भौगोलिक परिस्थितियों की उपज होता है। अतः अंचल का भूगोल वहाँ के निवासियों के रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान, विश्वास और मान्यताओं को स्वाभाविक रूप से प्रभावित करता है। ऐसा समाज अन्धविश्वास से भरा होता है तथा असभ्य दिखाई पड़ता है। लेकिन यह सब होने पर भी अंचल के लोगों में प्रकृति जन्य सरलता और स्वाभाविकता होती है। उनके जीवन की पद्धति की यह सरलता विशेष प्रभावित करने वाली होती है।

मेरीगंज को लेखक ने अंचल के एक हिस्से के 'पिछड़े गाँवों का प्रतीक मानकर इस किताब का कथा क्षेत्र बनाया है।" मेरीगंज और उसे आसपास का वह अंचल, भूख, गरीबी, बीमारी, और अंधविश्वासों से पीड़ित है। अंचल की समग्रता का महत्त्व स्थापित करते हुए लेखक ने मेरीगंज के सामाजिक जीवन का चित्रण किया है। इस गाँव के सामाजिक जीवन का आधार जातिगत है। इन जातियों में राजपूत, ब्राह्मण, यादव, और कायस्थ प्रमुख हैं। लेकिन सारे मेरीगंज में जातिवाद का दौर-दौरा इतना अधिक है कि मुहल्ले जातियों के नाम पर विभाजित हैं और हर एक की अपनी-अपनी अलग मान्यताएँ हैं। सभी जातियों के अपने-अपने नेता हैं। वस्तुतः मेरीगंज गाँव के एक छोटे समाज की संपूर्ण शक्ति उसकी जातियों और उपजातियों तथा वर्णों और वर्गों में विभक्त है—“अब गाँव में तीन प्रमुख दल हैं—कायस्थ, राजपूत और यादव। ब्राह्मण लोग अभी भी तृतीय शक्ति हैं। गाँव के अन्य जाति के लोग भी सुविधानुसार इन्हीं दलों में बंटे हुए हैं।” इन जातिगत वर्गों के बीच परस्पर राग-द्वेष की जड़ें भी बहुत गहरी हैं। 'राजपूतों और कायस्थों में पुश्तैनी मन-मुटाव और झगड़े होते आये हैं। ब्राह्मणों की संख्या कम है, इसलिए वे हमेशा तीसरी शक्ति का कर्तव्य पूरा करते हैं। अभी कुछ दिन पहले यादवों ने भी जोर पकड़ा है। जनेऊ लेने के बाद भी राजपूतों ने यदुवंशी क्षत्रिय को मान्यता नहीं दी। इसके विपरीत समय-समय पर यदुवंशियों के क्षत्रित्व को व्यंग्य विद्वेष के बाणों से उभाड़ते रहे। एक बार यदुवंशियों ने खुली चुनौती दे दी—बात तुल पकड़ने वाली थी। दोनों ओर से लगे हुए थे, यदुवंशियों को कायस्थ टोली के मुखिया तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद मल्लिक ने विश्वास दिलाया, मामले-मुकदमों की पूरी पैरवी करेंगे।” ब्राह्मण टोली के वृद्ध ज्योतिषीजी को राजपूतों से शिकायत इस बात की है कि उनके चुपचाप रहने के कारण ही “आज चारों ओर, हर जाति के लोग गले में जनेऊ लटकाए फिर रहे हैं। ...भूमिफोड़ क्षत्री तो कभी नहीं सुना था। शिव हो। शिव हो!”

वस्तुतः संपूर्ण गाँव के लोग छोटी-बड़ी उपजातियों में विभाजित होकर अत्यन्त क्षुद्र स्वार्थों में डूबे हुए हैं। पोलिया टोली, तन्विमा टोली, गहलोत क्षत्री टोली, कुर्म क्षत्री टोली, अमात्य, ब्राह्मण टोली, धनुकधारी क्षत्री टोली, कुशवाहा क्षत्री टोली, रैदास टोली, दुसाध टोली, पछिवारी टोली, गूजर टोली और कायरी टोली आदि कितनी ही टोलियाँ हैं। ऐसा लगता है कि जितने लोग हैं उतनी ही टोलियाँ हैं। उपन्यासकार ने इन टोलियों के व्यक्तियों को सूक्ष्मता से देखा है तथा चित्रित किया है। इनके आपसी झगड़ों का कारण इनके झूठे अहं और झूठी मर्यादाएँ हैं। उपन्यासकार ने संपूर्ण कृति में विस्तार से जातिवाद की विसंगतियों को खोलकर रख दिया है—“सिंध जी यादव टोली के 'नढेलों' का सीना तानकर चलना बर्दाश्त नहीं कर सकते। जोतसीजी ठीक कहते थे—बार-बार लाठी भाला दिखलाते हैं। हौंसला बढ़ गया है। अब तो राह चलते 'परनामी पाती' भी नहीं करते हैं यादव लोग। कलिया कभी-कभी चिढ़ाने के लिए नमस्कार करता है। देह में आग लग जाती है सुनकर लेकिन सिंध जी क्या करें ? राजपूत टोली के नौजवान लोग भी ग्वालों के दल में ही धीरे-धीरे मिल रहे हैं।

'मैला आँचल' का यह आँचलिक समाज जातिय विद्वेष और पारस्परिक घृणा, ईर्ष्या और क्षुद्रताओं से भरा हुआ है उसका वहाँ के लोगों की निपट गरीबी तथा सामाजिक चेतना का अभाव है। यही कारण है कि हर टोला आपस में लड़ रहा है। आपस में दलबंदी के लिए नये-नये कारण तलाश कर लिये जाते हैं। जातिगत-वर्ग-स्वार्थों का सूक्ष्म चित्रण उपन्यासकार ने किया है। इसी के बीच लेखक ने अंचल की विपन्नता को भी उद्घाटित किया है—“डॉक्टर ने इस बार आसपास के पंद्रह गाँवों का परिचय प्राप्त किया है। भयातुर इन्सानों को देखा है। बीमार और निराश लोगों की आँखों की भाषा को समझने की चेष्टा की है। उसे मध्यवित्त किसानों की अंदर हवेली और बेजमीन मजूदरों की झोंपड़ियों से उसका सिर टकराया है सात महीने के बच्चे को बथुआ और पाट के साग पर पलते देखा है।” इतना ही नहीं परस्पर टोलियों में विभक्त लड़ने वाले लोगों की औरतें पेट पालने के लिए दिन भर कड़ी मेहनत करती हैं—“उनकी औरतें हैं, सुबह से दुपहिया तक कमला में कादोपानी 'हिड़' कर एक दो सेर गैची मछली निकाल लायेंगी। चार सेर धान का हिसाब लग जायेगा। बाबू लोगों के पुआल के 'टालों' के पास

धरती खरोंच कर, चूहे के 'माँदों' को कोड़ कर भी कुछ धान जमा कर लेंगी। नहीं तो कोठी के जंगल से 'खमर आलू' उखाड़ लायेंगी।" यह ऐसी गरीबी है जिसमें आजीविका का कोई साधन नहीं है, कोई नियमित मजदूरी नहीं है, जमीन खोद-खोदकर एक-एक दाना निकालना और फिर अपना और बच्चों का पेट भरना है:

इन विषम आर्थिक परिस्थितियों के बीच अंचल के बेजमीन और भूमिहीन लोग बसर कर रहें हैं। जिस जमीन पर उनके झोंपड़े बने हैं वे भी उनके नहीं हैं—खेतों में फैली हुई काली मिट्टी की संजीवनी इन्हें जिलाये रखती है। शब्द श्यामला, सुजला-सुफला इनकी माँ नहीं? अब तो शायद धरती पर पैर रखने का भी अधिकार नहीं रहेगा। कानून बनने से पहले ही कानून को बेकार करने के तरीके गढ़ लिये जाते हैं। सुई के छेद से हाथी निकाल लेने की बुद्धि ही आज सही बुद्धि है। लोग तो बकवास करते हैं, बुद्धि विभ्रम रोग से पीड़ित हैं। जिसके पास हजारों बीघे जमीन है, वह पाँच बीघे जमीन की भूख से छटपटा रहा है।...बेजमीन आदमी, आदमी नहीं, वह तो जानवर है।" यह आदमी बेजमीन ही नहीं बेजबान भी है। पशु और भेड़ बकरियों की तरह यहाँ की जनता शोषण से उत्पीड़ित है। "पशु से भी सीधे हैं ये इन्सान, पशु से भी ज्यादा खुंखार हैं।" ऐसे लोगों के लिए डॉक्टर प्रशांत बार-बार अनुभव करता है कि यदि काला बाजार की एक रामबाण औषधि का अनुसंधान कर भी लिया गया तो इस भ्रष्ट और गरीब समान में पाँच आने का एक 'सेम्पुल' पचास रुपये तक का बिकेगा। गरीब आदमी की पहुँच यहाँ तक कैसे होगी और वह जीकर करेगा भी क्या? "...पेट! यही इनकी बड़ी कमजोरी है।" लेखक ने समाज के रोग का निदान डॉक्टर प्रशान्त के माध्यम से ढूँढ़ा है। "गरीबी और जहलात-इस रोग के दो कीटाणु हैं। जो एनोफिलीज से ज्यादा खतरनाक, 'सैंडप्लाइ' से ज्यादा जहरीले हैं। डॉक्टर सोचता है—'क्या करेगा वह संजीवनी बूटी खोजकर? उसे नहीं चाहिए संजीवनी। भूख और बेबसी से छटपटाकर मरने से अच्छा है 'मैन्लेंट मलेरिया' से बेहोश होकर मन जाना। तिल-तिलकर, घुल-घुलकर मरने के लिए उन्हें जिलाना बहुत बड़ी क्रूरता होगी।...यहाँ इंसान हैं कहाँ...अभी पहला काम है, जानवर को इंसान बनाना।"

मौजूदा! सामाजिक न्यायविधान भी इन गरीबों के पक्ष में नहीं है। ऐसी गरीबी के बीच अंधविश्वासों का पनपना स्वाभाविक है व जिंदगी क आश्रय बन जाते हैं। गनेश की नानी गाँव वालों को डाइन लगती है, गाँव की कुंवारी लड़कियों पर जिन आता है। "जिन एक पीर का नाम है। वह कभी-कभी मन मोहने वाला रूप घर पर कुमारी और बेवा लड़कियों को भरमाता है। गरीब से गरीब को धनी बना देना चुटकी बजाने भर की बात है। जिस पर बिगड़े बरबाद कर दे जिस पर ढरे उसे निहाल कर दें।" नील कोठी की ओर दिन में भी कोई नहीं जाता क्योंकि एक बार, 'जंगल से एक प्रेतनी निकली और नन्दलाल को कोड़े से पीटने लगी। सांप के कोड़े से। नन्दलाल वहीं ढेर हो गया। बगुले की तरह उजली थी प्रेतनी।" ऐसे ही कितनी ही भ्रम अंधविश्वास उस समाज में प्रचलित हैं।

सामाजिक परिस्थितियों के बीच उपन्यासकार ने आर्थिक वर्गों का चित्रण राजनीतिक प्रभाव के संदर्भ में किया है। 'मैला आँचल' की अभिशप्त जनता का आमूल परिवर्तन के बिना उसकी गरीबी से उद्धार नहीं किया जा सकता। इस करीबी को देखकर डॉ. प्रशान्त ने निदान तलाश लिया—“दरार पड़ी दीवार! यह गिरेगी। इसे गिरने दो। यह समाज कब तक टिका रह सकेगा?” लेकिन यह निदान नहीं है, उस लाचार जनता के लिए, जो शोषित और उत्पीड़ित है। 'मैला आँचल' में धनी किसान भी हैं और विश्वनाथ प्रसाद मल्लिक भी, जो आतंकित करने तथा उनका शोषण करने के पूरे हथकंडे जानते हैं। तहसीलदार ने एक गड्ढे जोंक पाल रखे हैं, “जिसने तहरीर खड़ा करवा दिया। पांव के अंगूठे से लेकर जांघ तक मोटे-मोटे जोंक घुंघरू की तरह लटक जाते हैं।”

तहसीलदार साहब को पता है कि गाँव में किसानों को किस तरह लड़वाया जा सकता है। तहसीलदार साहब कहते हैं संधाल गाँव के आदमी नहीं, बाहर के लोग हैं। उनकी संस्कृति अलग और जाति अलग है। सभी तहसीलदार साहब की हाँ में हाँ मिलाते हैं और तहसीलदार साहब जातीय विद्वेष को अपने हित में इस्तेमाल करते हैं। तहसीलदार

की इस चाल में सभी आ जाते हैं। खेलाब सिंह और हगोरी सिंह भी उसके शिकार होते हैं। जमीन की बदेखली और बन्दोबस्ती को लेकर संथालों के साथ संघर्ष होता है। गाँव के लोग मिलकर संथालों पर तहसीलदार साहब की जमीन बचाने के लिए आक्रमण करते हैं। हरगौरी सिंह घायल होते हैं, उसकी मृत्यु हो जाती है, कई संथाल मारे जाते हैं। मुकदमा चलता है, संथालों को गवाह नहीं मिलते। खेलावनसिंह अपनी जान बचाने के लिए खूब रुपया खर्च करते हैं, जमीन बेचते हैं। बेचारे फिर भैंस चराने की हालत में पहुँच जाते हैं लेकिन जमीन किसकी बढ़ती है, विश्वनाथ प्रसाद मल्लिक की चारों ओर तहसीलदार साहब की जमीन! दक्खिन में संथालों की जमीन करने के बाद पिपरा गाँव तक तहसीलदार के पेट में चला आया है।” यह घटना फिर एक बार उन जमींदारों की याद दिला देती है जो अंग्रेजों के राज्य में संथालों पर तरह-तरह के अत्याचार करते रहते थे। यह सब इसलिए होता है कि तहसीलदार साहब का ‘खम्हार ने खुले तो लोग अपना पेट कैसे भरें।’ ‘खम्हार! साल भर की कमाई का लेखा-जोखा तो खम्हार में ही होता है। दो महीने की कटनी एक महीना पड़नी, फिर साल भर खटनी। दबनी मढ़नी करके जमा करो, साल भर के खाये हुए कर्ज का हिसाब करके चुकाओ। बाकी यदि रह जाये तो फिर सादा कागज पर अंगूठे की टीप लगाओ। सफाई करनी है, सो बैल गाय भरना रखे या हलवाहा चरवाहा दो। फिर कर्ज खाओ। खम्हार का चक्र चलता रहता है। खम्हार में बैलों के झुंड से दबनी मढ़नी होती है। बैलों के मुँह में जाली का ‘जाब’ लगा दिया जाता है। गरीब और बेजमीन लोगों की हालत भी खम्हार बैलों जैसी है। मुँह में जाली का ‘जाब’।”

भूमिहीन खेतिहर लोगों की दयनीय स्थिति से संपूर्ण उपन्यास भरा हुआ है। डॉक्टर इन्हें बचाना चाहता है लेकिन “मौजूदा सामाजिक न्याय विधान ने इन्हें अपने सैकड़ों बाजुओं में जकड़कर ऐसा लाचार कर रखा है कि ये चूँ तक नहीं कर सकते।” तहसीलदार के विरुद्ध संघर्ष नहीं होता। अंग्रेजों के वार-फंड में मदद करने वाला तहसीलदार मौका आने पर कांग्रेस का नेता बन जाता है। अनाज की कीमतें बढ़ रही हैं लेकिन उससे लाभ बढ़े किसानों को हो रहा है—“अनाज की ऊँचे दर से गाँव तीन ही व्यक्तियों ने फायदा उठाया है। तहसीलदार साहब ने, सिंधजी ने और खेलवान सिंह यादव ने। छोटे-छोटे किसानों की जमीनें कोड़ी के मौल बिक रही हैं।” मजदूरी तो बढ़ी लेकिन महंगाई उससे कई गुनी अधिक बढ़ गई। किसी मजदूर का पेट नहीं भरता। ऐसे लोगों के साथ डॉक्टर की अप्रतिम सहानुभूति है लेकिन सहानुभूति से क्रांति नहीं आती। वह चाहता है कि जनता अपने अधिकारों को पहचाने। तहसीलदार की ओर संकेत करता हुआ वह कहता है—“मत समझना कि संथालों की जमीन छुड़ाकर जमींदार संतोष कर लेगा। अब गाँव के किसानों की बारी आयेगी। और तुमको तथा बलदेव जी को ही उन्होंने पहला हथियार बनाकर इस्तेमाल किया है।” कालीचरण यह भी कहता है कि “डॉक्टर ने कहा कि तुम लोग ही जमीन के असली मालिक हो। कानून है, जिसने कतीन साल तक जमीन को जोता बोया है, जमीन उसी की होगी।”

इस प्रकार उपन्यासकार ने अंचल में छिपी जन-शक्ति को उभारा है। यह ऐसी जनशक्ति है जो युगांतकारी परिवर्तन कर सकती है। इस शक्ति का प्रतिबिम्ब वहाँ की प्रकृति पर भी पड़ रहा है—“गुलमुहर-आज का फूल! सारी करूपता जल रही है। लाल! लाल! साधनविहीन, बेजमीन, पशुवत जनता लाचार है। लेकिन यह लाचारी बहुत दिन तब अब लचारी नहीं बनी रहेगी। जनता को बहुत दिन तक नहीं ठगा जा सकता—“...और ऐसे इन्सान? भूखे अतृप्त इन्सानों की आत्मा कभी भ्रष्ट नहीं हो या कभी विद्रोह नहीं करें, ऐसी आशा करना बेवकुफी है।” उपन्यास के अन्तर्गत भूमिहीन किसानों की मर्म वेदना का यह चित्रण बहुत महत्वपूर्ण है। इस प्रसंग में डॉ. रामविलास शर्मा का मत उल्लेखनीय है—“फिर भी ‘मैला आँचल’ का एक महत्वपूर्ण पक्ष है जो उसे प्रेमचन्द की परंपरा से जोड़ता है। बहुत कम उपन्यासों में पिछड़े हुए गाँवों के वर्ग संघर्ष का, वर्ग शोषण और वर्ग अत्याचारों का ऐसा जीता-जागता चित्रण मिलेगा। यह उसका सबल पक्ष है (प्रेमचन्द की परंपरा और आँचलिकता : आस्था और सौन्दर्य, पृ. 120)

‘मैला आँचल’ की इस पृष्ठभूमि में नवजागृति की छाप देखी जा सकती है। गाँव में डॉक्टर का आना, किसानों को दफा चालीस की जानकारी होना, चरखा सेप्टर खुलना तथा राजनीतिक दलों के कार्यकताओं के प्रयासों से

जनता का अपने अधिकार को पहचानना—“हलवाहा गोनाय ततमा कल से हल जोतने नहीं आता है। कहता है पिछले साल का बकाया साफ कर दीजिए तो हल उठावेंगे।” सामाजिक चेतना की यह झलक रामपियारिया के मठ की दासी बनने के प्रसंग में भी देखी जा सकती है। गाँव के नौजवानों ने रामपियारिया के दासी होने का घनघोर विरोध किया। गाँव में लक्ष्मी दासिन की दशा का पता किसे नहीं है। मठों में भ्रष्टाचार व्याप्त है लेकिन जनता सावधान हो रही है। मठ में एक नागा बाबा ने आकर लक्ष्मी को खूब गालियाँ सुनाई, लेकिन कालीचरण ने विरोध किया और गाँव वालों ने मिलकर पिटाई की—“नागा बाबा दाढ़ी छुड़ाते हैं, जटा छुड़ाते हैं, थप्पड़ों की मार से आंखों के आगे जुगनु उड़ते नजर आ रहे हैं। गांजे का नशा उतर गया है। आखिर दाढ़ी और जटा नोचकर कुल्हाड़ा छोड़कर ही भागते हैं।” नये महन्त रामदास भी अपने गुरु के चरणचिह्नों पर चलने की पहल करते हैं और लक्ष्मी को दासी बनाना चाहते हैं लेकिन लक्ष्मी “चुप कुत्ता!” कहते हुए हाथ छुड़ाकर रामदास के मुंह पर थप्पड़ लगाती है।” मठों में भी विद्रोह के संकेत दिखाई पड़ने लगे हैं।

गाँव में पंचायत बैठती है। लेकिन अब “दोनों तहसीदार के अगल-बलग में बलदेवजी और कालीचरण जी बैठे हैं। बामन राजपूत के साथ में बैठा है यादव, एक ही ऊंचे ‘सफरे’ पर! अरे जीबेसर मोची भी उसी कम्बल पर बैठा है।” और पंचायत में विरोधी हाथ भी उठने लगे हैं।

गाँव का बदलता हुआ परिदृश्य राजनीतिक दलों की गतिविधियों के द्वारा देखा जा सकता है। कालीचरण की बातें जनता को अच्छी लगती हैं—“गरीबों और मजदूरों की आँखें कालीचरण ने खोल दी हैं। सैकड़ों बीघे जमीन वालों के पास पैसे हैं, पैसे से गरीबों को खरीदकर, गरीबों के गले पर गरीबों के जरिये ही छुरी चलाते हैं। होशियार! जिन लोगों ने नई बन्दोबस्ती ली है, वे गरीबों की रोटी मारने वाले हैं।” कांग्रेसी कार्यकर्ता ‘बलदेव जी’ राष्ट्रीय आंदोलन तथा महात्मा गाँधी की उपलब्धियों का प्रचार करता है। लेकिन उसका प्रभाव धीरे-धीरे और कम होता है। कांग्रेस भक्त बावनदास पूर्णिया अत्याचार की खबर देने गया था लेकिन, ‘उसने पुरेनियाँ में देखा जुलुम हो रहा है।’ वह देखता है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद दल के पदों पर भ्रष्ट लोगों ने अधिकार कर लिया है तथा मंत्रिपद प्राप्त करने के लिए परस्पर झगड़े और विवाद हैं। मेरीगंज में एक मुसलमान नहीं है लेकिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक के संयोजक भी मौजूद हैं। वस्तुतः उपन्यासकार ने जिस प्रकार राजनीतिक दलों का चित्रण किया है उससे उनके दोषों का उद्घाटन ही अधिक हुआ है। संभवतः यही कारण है कि मेरीगंज के लोगों ने राजनीतिक दलों को गंभीरता से ग्रहण नहीं किया। फिर भी लेखक ने सामाजिक और राजनीतिक चित्रण के द्वारा सामंती उत्पीड़न को प्रस्तुत किया है। नये सामाजिक दबाव किस प्रकार एक अंचल के जीवन को बदल रहे हैं, ‘मैला आँचल’ में देखा जा सकता है।

आँचलिक उपन्यासों में अंचल की संस्कृति का चित्रण विशिष्ट वातावरण की सृष्टि करता है। लोकसंस्कृति के इस चित्रण के कारण अंचल का संपूर्ण परिवेश व्यक्ति के समान मुखर हो उठता है। डॉ. रामविलास शर्मा ने ‘मैला आँचल’ की इस विशेषता का उल्लेख अपने निबंध “प्रेमचन्द की परंपरा और आँचलिकता” में किया है। ‘मैला आँचल’ में नयी चीज है, लोकसंस्कृति का वर्णन। लोकगीतों और लोकनृत्यों के वर्णन द्वारा लेखक ने एक अंचल विशेष की संस्कृति का चित्र अंकित किया है।” (आस्था और सौन्दर्य-पृष्ठ 119) के लोकजीवन के विविध रूप लोक संस्कृति के माध्यम से आँचलिक उपन्यासों में प्रकट होते हैं। इस प्रकार एक अंचल के लोगों की परंपरागत मान्यताएँ रीति-रिवाज तथा उनका रहन-सहन अभिव्यक्त होता है। उनकी वेषभूषा, बोली तथा मनोरंजन की विविध रूप संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। ‘मैला आँचल’ में एक अंचल के लोगों की जीवन पद्धति उनके अपने वातावरण में देखी जा सकती है।” भारतवर्ष की अतुलनीय लोक-संस्कृति की अपूर्व सम्पत्ति का इस पुस्तक में सर्वथा नवीन उपयोग है। वह कभी न थमने वाले किन्तु सर्वथा संवेदनशील, पार्श्वसंगीत की भांति है जिसमें जीवन के रंचमंच पर चलने वाले नाटक की हर बदलती मानदशा के अनुरूप नयी लय है, नया स्वर विन्यास है, नये बोल हैं, नई नृत्य भंगिमाएँ हैं। अन्त तक लेखक ने अपने उस विवेक को बनाये रखा है कि जीवन में संगीत और लय है वे सुख

में विभोर होने पर गाते और नाचते हैं और दुःख में विभोर होने पर भी।” (हिन्दी उपन्यास की एक नयी दिशा : नेमिचन्द जैन, विवेक के रंग’ में सकलित, पृष्ठ 207)।

‘मैला आँचल’ में चित्रित लोकसंस्कृति के विविध रूप-गीत संगीत, नृत्य, पर्व त्योहारों में देखे जा सकते हैं। इस चित्रण में अंचल की जीवन की व्याप्ति है। वस्तुतः गीत, संगीत आदि वहाँ के जन-जीवन के सुख-दुःख की अभिव्यक्ति के साधन हैं। ‘मैला आँचल’ में मेरीगंज के आँचलिक परिवेश और उसकी संस्कृति का व्यापक चित्रण वहाँ के ‘मनुष्य’ का इतिहास भी है। अंग्रेजों और जमींदारों की साठ-गांठ के कितने ही संधाल गोली के शिकार हुए और कितनों ने ही विभिन्न जेलों में सेना को मेहतर कमांड में काम करते-करते उम्र बता दी, “लेकिन मानर और डिग्गा की आवाज कभी मन्द नहीं हुई, बांसूरी कभी बंद नहीं हुई और न उनके तीरों में ही जंग गये।” आज भी कभी-कभी बनैले जानवरों के शिकार के समय सूरज की किरणों में चमककर चकाचौंध पैदा कर देते हैं इनके तीर।” दरअसल दुःख और अभाव को भी जो सुख की तरह बिताना जानते हैं उन्हीं की कथा ‘मैला आँचल’ की कथा है।

विदापत नाच, जाट-जट्टिन का खेल तथा संधालों के नृत्य ‘मैला आँचल’ में अंकित संस्कृति के अंग हैं। विदापत नाच हास्य और व्यंग्य प्रधान नृत्य हैं। इसीलिए मनोरंजन के साथ-साथ उसमें गाँव की अनेक बातों पर व्यंग्य भी होता है। ज्योतिषी जी का लड़का ‘नामलरैन’ विदापत नाच का समाजी है और ‘लोकायत’ बिकटा (विदूषक) बना है। रूप से वह जन्मजात बिकटा लगता है। मृदंग बज रहा है और साथ में करताल और झाल भी। नाच जम रहा है तभी “मृदंग के ताल पर दबे पावों नटवा आता है। ताल पर ही चलकर सबसे पहले मृदंग को प्रणाम करता है, फिर झाल, करताल को और अन्त में मूलगैन लिबडू पासवान का पैर छूकर प्रणाम करता है पोलिया टोली के छीत्तनदास का बेटा चलित्तरा लड़कियों की तरह लम्बा बाल रखता है। नाक में बुलाक भी हमेशा पहने रहता है। वही नटवा है।” नृत्य करते-करते गाता भी है और उसी के बीच सामाजिक स्थितियों की व्यंजना भी करता है।

“नटूआ दो हाथ जोड़कर फन काढ़े गेहूँअन सांप की तरह हिलते-डुलते, कमर के सहारे बैठा रहा है। धरती पर धांधरी पुरैन के पत्ते की तरह बिछी हुई है। मिनती करती है। हैं रे...। हैं रे... बांहरे छोड़ा।

नाम रख लिया गाँव का।

आहे, एकहि न...ग...र बसू माधव हो,

आहे जनि करू बटवा...वा...रो!

आहे छोडू छोडू जदूपति आंचर हो,

हो भागंत न...ब सारी।”

“हाँ भैया, ‘कोटा कन्ट्रोल’ का जमाना है कपड़ा नहीं मिलता है। जरा होसियारी से।”

जाट-जट्टिन का खेल महिलाओं के बीच होता है और इसे पुरुष नहीं देख सकते। यह एक प्रकार का अभिनय है, जिसमें औरतें गाँव के बड़े-बड़े लोगों की नकल उतारती है और सम्पन्न किसानों को गलियाँ देती है। औरतों के इस व्यवहार का लोग बुरा नहीं मानते। इतना ही नहीं, इन सांस्कृतिक उत्सवों के साथ उनके विश्वास भी जुड़े हुए हैं—“आज ‘पुरनिमाँ’ है। कल से यदि ‘बरखा’ नहीं हुई तो सारा परव ‘सूखा रहेगा। तमता टोली की औरतों ने बाबू टोला की औरतों को निमंत्रण दिया है’—एक साथ सब मिलकर जाट-जट्टिन खेलें, जरूर बरखा होगी।” जट्टिन बनी है, रामपियरिया और जाट बनी है कोयरी टोली की मखनी। ‘जाट-जट्टिन’ अभिनय के साथ और भी सामायिक अभिनय तथा व्यंग्य-नाट्य बीच-बीच में होते हैं। अभिनय के अंत में औरतें मिलकर हल जोतती हैं। हल

और बैल किसी का ले आती हैं और हल जोतते समय गाँव के बड़े-बड़े किसानों को गाली देती हैं—“अरे बिस्नाथ तहसीलदारवा! जल्दी पानी ला रे! ए!! ए!! पियास से मर रहे हैं रे ए ए।” इस सबके बीच संथानों को नृत्य अपना विशेष महत्त्व रखता है।

‘मैला आँचल’ में लेखक ने लोकगीतों, पर्व त्योहारों तथा ऋतुओं के उत्सवों का जीवन्त वर्णन किया है। समसामयिक राजनीतिक चेतना के कारण सुराजी गीत की ध्वनि भी सुनाई पड़ती है तो कीर्तन तथा मठ के अंदर होने वाले बीजक पाठ की अनुगूँज संपूर्ण वातावरण में छा जाती है। सुरंगा-सदाब्रिज की कथा को वहाँ के जन-जीवन की अपनी विशेषता है। लोक गीतों के अंचल के जीवन का माधुर्य कितने सहज रूप में व्यक्त हो रहा है—

“चढ़ती जवानी, मोरा अंग-अंग फड़के से

कब होई हैं गवना हमार रे भउजिया।”

गाड़ीवालों का दल भउजिया का गीत गाते हुए गाड़ी हांक रहा है तो कहीं सुराजी कीर्तन सुनाई पड़ता है—

“कथि जे चढ़िये आयेल

भारत माता

कथि जे चढ़ल सुराज

चलु सखी देखने को।

कथि जे चढ़िये आयेल

वीर जमाहिर

कथि पर गंधी महाराज। चलु सखी...।”

खंजरी के बजने के साथ मठ से आवाज आती है—

“सन्तो हो, करू बहियां गल आपनी

छाडु बिरानी आस!

सन्तो हो, जिहि अंगना नदिया बहै,

सो कस मरे पियास।

हो सन्तो, सो कस मरे पियास।”

होली के पर्व पर तो भावनाएँ मुक्त होकर फूट पड़ती हैं और छोटे-बड़े की समस्या मर्यादा-सीमाएँ टूट जाती हैं—

“अरे बहिया पकड़ि झकझोरे श्याम रे

फूटल रेसम जोड़ी चूड़ी

मसकि गयी चोली, भींगावल साड़ी”

इस वातावरण में ज्योतिषीजी भला कैसे बच सकते हैं—

“अरे ओ बुड़बक मना अरे ओ, बुड़बक बमना,

चुम्मा लेवे मैं जात नहीं रे जाया।”

इसी के साथ कितने पर्वों का वर्णन है। सिरवा पर्व पर ‘मछहरी’ होती है और उसी के साथ सन्तुआनी पर्व में सत्तू खाया जाता है। चैत संक्रांति के बाद पहली बैसाखी के दिन भूमिदाह नहीं किया जाता। संधालों का ‘बंध ना पर्व’, जिसमें कितने ही नये-नये सम्बन्ध परस्पर जुड़ते हैं। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पर्वों-त्योहारों पर गाये जाने वाले गीतों में अनेक जीवन-सत्य उद्घाटित होते हैं, साथ-ही-साथ सामाजिक व्यवस्था पर व्यंग्य भी होता है।

“बरसा में गढ़टे जब जाते हैं भर

बेंग हजारों उसमें करते हैं टर्

वैसे ही राज आज कांग्रेस का है।

लीड़ बने हैं सभी कल के गीदड़...।”

लोक-संस्कृति के इस चित्रण के द्वारा लेखक ने कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठा दिये हैं। निश्चित ही रेणु ने उपन्यास क्षेत्र में नयी मान्यताओं की प्रतिष्ठा की है। लेकिन उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वाधीन भारत में लोक-संस्कृति के जीवन्त तत्त्वों को बदलते हुए परिवेश में कैसे सुरक्षित किया जाए? लेखक ने पराधीन भारत में जो यह विशिष्ट संस्कृति उपेक्षित थी उसे ‘मैला आँचल’ में प्रतिष्ठित किया है लोक संस्कृति के गीत, संगीत तथा नृत्य के वैभव को प्रस्तुत करके नये सिरे से विचार करने को प्रेरित किया गया है तथा नागरिक संस्कृति के एकाधि कार को भी तोड़ा है। लोक संस्कृति के संदर्भ में ‘मैला आँचल’ की यह विशिष्ट देन है।

आँचलिक उपन्यास : विकास और परंपरा

ग्रामों तथा सुदूर अंचल में बसी जन-जातियों से निकट संपर्क स्थापित करने की भावना तथा नागरिक जीवन की ऊब और व्यस्तता से बचकर प्रकृति-प्रेम ने साहित्य में इस प्रकार की परंपरा को जन्म दिया है। इस दृष्टि से अंग्रेजों का रोमांटिक आंदोलन और आँचलिक साहित्य का एक ही आधार है। लेकिन रोमांटिक साहित्य व्यक्ति की महत्ता पर केन्द्रित है जबकि आँचलिकता की प्रवृत्ति लोकजीवन और उसकी संस्कृति को आधार बनाकर एक नई सामाजिक चेतना को जन्म देती है। हिन्दी में प्रेमचन्द पहले उपन्यासकार हैं जिन्होंने गाँव की जिंदगी को वहाँ के मनुष्य और समाज को, उसके भौगोलिक वातावरण में प्रस्तुत किया। प्रेमचन्द के उपन्यासों में प्रकृति और वातावरण की छाप सब कहीं देखी जा सकती है। लेकिन प्रेमचन्द मुख्यतः स्वाधीनता आंदोलन के बीच भारतीय समाज के चित्रकार हैं। उनके उपन्यासों में लोक-जीवन के विविध दृश्य देखे जा सकते हैं लेकिन उनका मुख्य उद्देश्य गुलामी के विरुद्ध स्वाधीनता के संघर्ष को गति देना था। इस दृष्टि से ही उन्होंने अपने उपन्यासों में ग्रामीणों कथाओं तथा उसके सामाजिक जीवन को गुम्फित किया है। प्रेमचन्द के अतिरिक्त, वृंदावन लाल वर्मा में भी आँचलिकता का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि उनके उपन्यास ऐतिहासिक हैं फिर भी बुंदेलखंड की प्रकृति तथा परिवेश सशक्त रूप में गढ़कूण्डार आदि उपन्यासों में अंकित हुआ है।

इस प्रकार आँचलिक उपन्यासों की शुरुआत के पहले उसकी प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ने लगी थी। आँचलिकता के पोषक तत्त्व हिन्दी-उपन्यासों में विद्यमाना थे। धीरे-धीरे उन तत्त्वों का समन्वय ही आँचलिक उपन्यास के रूप में हुआ। परंतु जिस एक उपन्यास को आधार बनाकर इसका नामकरण हुआ वह ‘मैला आँचल’ है जिन अर्थों में

‘मैला आँचल’ ‘आँचलिक’ उपन्यास है उन अर्थों में उससे पहले अन्य कोई नहीं। उसके पूर्ववर्ती उपन्यासों में लक्षण तो हैं तथा रूपरेखा भी बनने लगी थी।, परंतु वे आँचलिक उपन्यास नहीं थे। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि ‘मैला आँचल’ का प्रकाशन 1954 में हुआ। उसके पहले इसी शैली में नागार्जुन का ‘बलचनमा’ तथा रूद्र का ‘बहती गंगा’ आदि कुछ उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे, लेकिन अक्टूबर 1954 के ‘आलोचना’ के उपन्यास विशेषांक में आँचलिक उपन्यास का नाम तक नहीं था। ऐसे उपन्यासों को, जिन्हें बाद में आँचलिक उपन्यासों के अंतर्गत रखा गया, सामाजिक यथार्थवादी उपन्यासों के वर्ग में विश्लेषित किया गया है। इसलिए यह कहना असंगत न होगा कि हिन्दी-उपन्यासों में आँचलिकता की जो प्रवृत्ति ‘मैला आँचल’ के रूप में प्रकट हुई वह प्रेमचन्द द्वारा प्रस्थापित सामाजिक यथार्थ का ही एक प्रस्फुरण है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस प्रवृत्ति के विकसित होने के कई कारण रहें। राष्ट्रीय जीवन में अनेक विसंगतियाँ उभरकर सामने आईं। देशव्यापी आर्थिक संकट, महंगाई, शिक्षा, विज्ञान, तकनीकी प्रसाधन के नये रूप और उनका प्रसार औद्योगिक विकास सुदूर गाँवों में योजनाओं के क्रियान्वित होने से एक नयी सामाजिकता दिखाई पड़ने लगी। स्थितियों के दबाव ने साहित्यकार को यथार्थवाद के नये-नये रूपों की ओर जाने के लिए बाध्य किया। आँचलिक उपन्यास उसी का प्रतिफलन है।

‘मैला आँचल’ के बाद हिन्दी में आँचलिक उपन्यासों को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है। विद्वानों ने अलग-अलग उपन्यासों को लेकर आँचलिक उपन्यासकार को परिभाषित करने का प्रयत्न किया। नागार्जुन के उपन्यासों में बिहार के भिन्न-भिन्न अंचलों का चित्रण है। ‘रतिनाथ की चाची’ में मिथिला की प्रकृति और वहाँ की परम्पराओं का चित्रण है। ‘नयी पौध’ में नौगछिया बस्ती को आधार बनाकर आर्थिक विपन्नता का चित्रण है और ‘दुःखमोचन’ में टमका काइली गाँव की अनेक मुख्य समस्याओं को उठाया गया है। वस्तुतः नागार्जुन के उपन्यासों में आँचलिक परिवेश का चित्रण उसकी संस्कृति में संदर्भ में न होकर सामाजिक समस्याओं पर विशिष्ट दृष्टि रखकर किया गया है। इस दृष्टि से उनमें विस्तार भी है और व्यंग्य के कारण प्रभावशाली भी है लेकिन लोक संस्कृति का मर्म नहीं है।

नागार्जुन के अतिरिक्त इस परंपरा के अन्य उपन्यासों में रांगेय राघव के ‘काका’, कब तक पुकारूँ, उदयशंकर भट्ट के ‘लोक-परलोक’, सागर लहरें और मनुष्य देवेन्द्र सत्यार्थी के ब्रह्मपुत्र, रथ के पहिये, शैलेश मटियानी के ‘चिट्ठी रसैन’, ‘हौलदार’ और ‘चौथी मुट्ठी’ रामदरश मिश्र का ‘पानी के प्राचीर’ तथा शिवप्रसाद सिंह का ‘अलग-अलग वैतरिणी’ ये सभी उपन्यास किसी-न-किसी अंचल के विशिष्ट जन-जीवन या आदिम जातियों से संबंधित हैं। ‘काका’ में मथुरा नगर के संबंधित और परम-पवित्र ‘जमुना मैया’ पर आश्रित पड़ा-समाज का चित्रण है। ‘ब्रह्मपुत्र’ में असम प्रदेश में ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे आबाद लोगों की कथा है। ‘पानी के प्राचीर’ का कथांचल गोरखपुर जिले की दो नदियों की धाराओं से घिरे एक विशाल भूभाग पर बसे जन-जीवन की रक्षा है। इसी प्रकार नागार्जुन के ‘वरण के बेटे’ में मछलीमारों तथा ‘कब तक पुकारूँ’ में जरामरा पेशा करने वाली नट जाति का चित्रण है।

ग्रामीण अंचल या जन-जातियों से संबंध रखने वाले आँचलिक उपन्यासों के अतिरिक्त कुछ ऐसे उपन्यास लिखे गये जो किसी नगर के किसी विशेष हिस्से पर कस्बे के एक खास मुहल्ले या सही से संबंधित हैं। इस प्रकार के उपन्यासों में जो विशेष चर्चित हुए वे ‘बूंद और समुद्र’ (अमृतलाल नागर), ‘आधा गाँव’ (राही मासूम रजा) और ‘रागदरबारी’ (श्रीलाल शुक्ल) हैं। ‘बूंद और समुद्र’ में लेखक ने लखनऊ के एक प्रसिद्ध मोहल्ले चौक की गली कूचों में बसने वाले लोगों की जिंदगी को कथा आधार बनाया है। प्रदेश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के लोग वहाँ रहते हैं उनकी अपनी बोली, मान्यताएँ और परंपराएँ हैं। लेखक ने उस जीवन का अत्यन्त सशक्त रूप उभारा है, उस जीवन के द्वंद को मुखर किया है। ‘बूंद और समुद्र की भाषा उसमें अंकित जीवन को व्यक्त करने में भरपूर समर्थ

है। वस्तुतः भाषा के कारण मुहल्ले का संपूर्ण जीवन विशिष्ट रूप-रंग ग्रहण करता है। इस प्रकार लेखक स्थानीय विशेषताओं को उभारने में पूरी तरह सफल हुआ है।

‘बूंद और समुद्र’ को किन अर्थों में आँचलिक उपन्यास कहा जाय यह एक विवादास्पद प्रश्न हो सकता है। आँचलिकता की विशेषताओं के अनुसार उसे आँचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ‘मैला आँचल’ के समान आँचलिक तत्त्व उसमें नहीं है। इसके अतिरिक्त उपन्यास की भूमिका में लेखक ने ‘देश के मध्यवर्गीय नारी समाज का गुण-दोष भरा चित्र’ खींचने की बात की है। इस प्रकार उपन्यासकार की दृष्टि भले ही नगर के एक वंश पर पड़ी हो लेकिन उसका विस्तार संपूर्ण समाज व्यवस्था तक होता है। इसलिए आँचलिक उपन्यासों को यथार्थवादी उपन्यासों का प्रतिफलन मानने पर ही उसे आँचलिक उपन्यास से जोड़ा जा सकता है। लगभग यही बात ‘आधा गाँवों’ और ‘राग दरबारी पर भी लागू होती है। ‘आधा गाँव’ के प्रकाशन ने उसे आँचलिक उपन्यास घोषित किया है और लेखक ने गाजीपुर जिले के गाँव गंगौली की एक पट्टी-जिसमें शिया मुसलमान रहते हैं, का चित्रण किया है। लेकिन आँचलिकता के कई तत्त्वों का उसमें अभाव है। ‘राग दरबारी’ स्थान विशेष से संबद्ध होते हुए भी ऐसे गाँव का चित्रण है जो आधुनिक भारत में कहीं भी हो सकता है। उपन्यास में वर्णित मूल्यहीनता, संस्कारहीनता तथा भ्रष्टाचार आज संपूर्ण जातीय जीवन में व्याप्त है। इस प्रकार वह एक व्यंग्य कृति के रूप में विशिष्ट रचना है।

(ख) 'मैला आँचल' : वस्तु और संरचना

कोई भी औपन्यासिक कृति मूलतः उपन्यास होती है। विशेषण लगा देने से उसका मूलस्वरूप नहीं बदलता। यह बात 'मैला आँचल' के संबंध में उतनी ही सही है जितनी किसी उपन्यास के लिए। इसी अर्थ में 'मैला आँचल' एक आँचलिक उपन्यास है। 'आँचलिकता और मैला आँचल' निबन्ध के अन्तर्गत आँचलिकता का विस्तार से विश्लेषण भी किया जा चुका है। अतः यह स्पष्ट है कि आँचलिकता उपन्यास का पर्याय न होकर उपन्यास का विशिष्ट रूप है। यह विशिष्टता उसकी वस्तु-संरचना में भी निहित है। 'मैला आँचल' की वस्तु-संरचना का आधार एक अंचल का यथार्थ जीवन है। यही कारण है कि उसके वस्तु-संगठन में अन्य उपन्यासों से भिन्नता है जो उसे आँचलिक उपन्यासों के जनक के रूप में स्थापित करती है। एक आँचल का समग्र जीवन और उसके साथ यथार्थवादी चित्रण-वस्तु और संरचना के आधारभूत तत्त्व बन जाते हैं। अपनी आँचलिक विशिष्टता के कारण 'मैला आँचल' ने हिन्दी उपन्यास को एक नयी दिशा प्रदान की। उसकी यथार्थवादी चित्रण-पद्धति के कारण उसे प्रेमचन्द की परंपरा का उपन्यास माना गया। सम्भवतः 'मैला आँचल' की इस विशेष स्थिति के कारण ही उसकी समीक्षा करते हुए नेमिचन्द्र जैन ने लिखा है—'मैला आँचल' हिन्दी उपन्यास जगत् में एक धूमकेतु की भाँति प्रकट हुआ है इसमें तो कोई संदेह नहीं। यह स्वभाविक ही था कि उसके बारे में पहली प्रतिक्रिया बड़ी प्रबल हुई और अधिकांश पाठक और समीक्षक उसकी नवीनता के ज्वार में बह गये। इसलिए यह भी अनिवार्य था कि उसकी तुलना प्रेमचन्द और 'गोदान' से की गयी। इसी के फलस्वरूप शायद अब दूसरी प्रतिक्रिया यह है कि वास्तव में उपन्यास में इतना अपूर्व कुछ नहीं। शायद ये दोनों ही धारणाएँ एकांगी और गलत हैं। मूलतः यह 'मैला आँचल' के लेखक के साथ ही अन्याय है और प्रेमचन्द के साथ भी। 'गोदान' और 'मैला आँचल' में साम्य केवल ऊपरी है। दोनों उपन्यासों का न केवल युग भिन्न है बल्कि दोनों की मूल भाववस्तु भी भिन्न है। और दोनों के लेखकों के व्यक्तित्व की प्रौढ़ता में तो धरती-आसमान का अंतर है। जैसा कि ऊपर कहा गया है 'मैला आँचल' में युगजन्य दबाव के फलस्वरूप तीव्रता से बदलते हुए ग्राम की गति का चित्र अवश्य है, पर उसमें 'गोदान' जैसी वह 'क्लासिक' तस्वीर नहीं है, जो युगों तक मिटती नहीं। 'मैला आँचल' के पात्र एक युग की उपज हैं, जो जितनी तेजी से आते हैं उतनी ही तेजी से गतिचक्र में विलीन भी हो जाते हैं। (हिन्दी उपन्यास की एक नयी दिशा—'विवेक के रंग' से उद्धृत, पृ. 219)

वस्तुतः 'मैला आँचल' तथा आँचलिक उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं के चित्रण में परिणामस्वरूप उसे प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा का उत्तराधिकारी बताया जाता है। इस दृष्टि से 'मैला आँचल' को लेकर गहरी प्रतिक्रियाएँ हुईं। 'मैला आँचल' की चित्रण-पद्धति को यथार्थवाद से अधिक प्रकृतवाद के निकट मानते हुए डॉ. रामविलास शर्मा का कहना है कि "गतिशील यथार्थ में कौन से तत्त्व अधिक गतिशील हैं, कौन-से मरणशील; किन पर व्यंग्य करना चाहिए किनका चित्रण अधिक सहानुभूति से करना चाहिए, वातावरण, घटनाओं आदि के चित्रण और वर्णन में कितनी बातें छोड़ देनी चाहिए और कितनी का उल्लेख होना चाहिए, कथाशिल्प की इन विशेषताओं में 'मैला आँचल' का लेखक प्रेमचन्द की परंपरा से दूर पड़ा है।" लेकिन 'मैला आँचल' के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष की वे उपेक्षा नहीं कर सके हैं जो उसे प्रेमचन्द की परंपरा से जोड़ता है। वे लिखते हैं "बहुत कम उपन्यासों में पिछड़े हुए गाँवों के वर्ग-संघर्ष, वर्ग-शोषण और वर्ग अत्याचारों का ऐसा जीता-जागता चित्रण मिलेगा। यह उसका सबल पक्ष है कमजोरियों पर ध्यान केंद्रित करके उसके इस गुण को भुला देना उचित न होगा।" (आस्था और सौन्दर्य: प्रेमचन्द की परंपरा और आँचलिकता—पृ. 119-20)

प्रेमचन्द शोषित मानवता के पक्षधर लेखक थे। उनका संपूर्ण लेखन, दलित, उत्पीड़ित और उपेक्षित वर्ग के लिए हैं। प्रेमचन्द की परम्परा में 'मैला आँचल' को रखने का अर्थ भी यही है। निश्चित रूप से रेणु ने एक अंचल की सामाजिक समस्याओं को, उनके आर्थिक वैषम्य को, गरीबी और पिछड़ेपन को, चित्रित करके यथार्थ के नये द्वार उद्घाटित किये हैं। 'मैला आँचल' की सृष्टि नागरिक जीवन की कृत्रिम जिंदगी के विरुद्ध हुई है। औद्योगिक विकास तथा पूँजीवाद की परिस्थितियों की अनिवार्य गति से उत्पन्न सामाजिक वैषम्य की अनुभूति की अभिव्यक्ति 'मैला आँचल' की कथा-वस्तु में स्पष्ट रूप से हुई है। राजेन्द्र यादव को इस बात से शिकायत है कि केवल आँचलिक साहित्य को यथार्थवाद की इस परम्परा में क्यों रखा जाता है। आँचलिक यथार्थवाद के भक्त यही गलती करते हैं जब वे कहते हैं कि व्यक्तिवादी साहित्य के विरुद्ध नये युग आयामों को अपनी समर्थ लेखनी से उभरकर लाने कार्य केवल आँचलिक साहित्यकारों ने किया ('सारिका अक्टूबर' 61) वस्तुतः जैनेन्द्र, अज्ञेय और राजेन्द्र यादव साहित्य समाज विच्छिन्न व्यक्ति का चित्रण करने वाले लेखकों ने जिस परिवेश को अपनी रचनाओं का आधार बनाया वह एक ऐसा यथार्थ था जो व्यक्तिमन की रहस्यमय धरती से ऊपर नहीं उठ सका। इसकी अपेक्षा आँचलिक कृतियों का प्रभाव अधिक सघन और सर्जन की प्रक्रिया गति को तीव्र करने वाला था। परिणामतः मध्य वर्ग को केन्द्र बनाकर लिखे गये उपन्यास अत्यन्त साधारण और हीन प्रतीत लगे। आँचलिक उपन्यासों की सृष्टि ही व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के प्रतिष्ठापन तथा नागरिक जीवन पर आधारित कल्पित कहानियों के विरुद्ध हुई। इसलिए कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द के बाद आँचलिक उपन्यासों का आगमन समय के अनिवार्य दबाव का परिणाम था।

रेमण्ड विलियम्स के अनुसार यथार्थवादी कथा-साहित्य की परम्परा का अर्थ है—“इस प्रकार की कथाकृति जिसमें एक समग्र जीवन पद्धति का सृजन व मूल्यांकन व्यक्ति की विशेषताओं के माध्यम से हुआ हो। जहाँ समाज वैयक्तिक सम्बन्धों के अध्ययन के लिए केवल एक पृष्ठभूमि नहीं है और न व्यक्ति केवल जीवन पद्धतियों का उदाहरण मात्र—जहाँ मूल्य का केन्द्र महान-व्यक्ति है, एक अकेला विच्छिन्न आदमी नहीं, पर वे बहुत सारे लोग जो सामान्य जीवन की वास्तविकता के विधायक हैं।” (दि लांग रिवाल्यूशन पृ. 278) यहाँ लेखक ने जिस यथार्थवादी परम्परा की व्याख्या की है उससे व्यक्ति और समाज दोनों के पारस्परिक संबंधों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए एक संपूर्ण जीवन पद्धति को समझा जाना है। 'मैला आँचल' की कथा-वस्तु और संरचना के अध्ययन में इसे देखा जा सकता है।

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मैला आँचल' में एक समग्र अंचल की जीवन पद्धति को समेटकर 'मानव-व्यक्ति' का चित्रण किया गया है। 'मैला आँचल' का 'नैरेटर' (कथावाचक) अंचल स्वयं है। कथाशिल्प की इस विशेषता के कारण अंचल का व्यक्तित्व संपूर्ण रूप से मुखर हो उठा है। इसलिए उसमें कथाएँ, उप-कथाएँ, घटनाएँ, प्रसंग तथा चरित्र अंचल के व्यक्तित्व के अभिन्न अंग बन जाते हैं। वास्तव में ये विभिन्न उपादान अंचल के वैविध्यपूर्ण जीवन को, उसकी समस्त विसंगतियों को अभिव्यक्त करने में पूरी तरह समर्थ हुए हैं। लेखक का मुख्य उद्देश्य एक अंचल के समग्र जीवन को चरितार्थ करना है, इसलिए कथा बिखरी हुई है, लेकिन संरचनात्मक स्तर पर आंतरिक संगति उत्पन्न करके उसे संश्लिष्ट रूप प्रदान किया गया है। यह बात 'मैला आँचल' के वस्तु-विश्लेषण में देखी जा सकती है।

'मैला आँचल' एक आँचलिक उपन्यास है। इसलिए आँचलिक उपन्यासों की तरह उसमें भी वस्तु संगठन शिथिल है। उसकी कथावस्तु में एक सूत्रता और सुसम्बद्धता नहीं है। उसके विरुद्ध सबसे बड़ा आरोप भी यही है। संपूर्ण अंचल के वैविध्यपूर्ण जीवन को चित्रित करने के कारण 'मैला आँचल' की वस्तुसंरचना में केन्द्रीकरण की प्रकृति नहीं है। उसमें कथाएँ अलग-अलग निकाली जा सकती हैं। बालदेव-लक्ष्मी, कालीचरण-मंगला, डॉ. प्रशान्त कुमार-कमला, सहदेव-फुलिया तथा रामदास रामपियरिया, वस्तु-संरचना के ऐसे सूत्र हैं जो संपूर्ण उपन्यास में फैले हुए हैं। इन कथा-सूत्रों के माध्यम से संपूर्ण अंचल की स्थितियों का चित्रण किया गया है। इन कथा सूत्रों के

अतिरिक्त बावनदास का चरित्र और उसका व्यक्तित्व वस्तु-संरचना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इतना ही नहीं, तहसीलदार खेलावन सिंह जोतखीजी तथा महन्त सेवादास की वस्तु-संरचना से अलग नहीं देखा जा सकता है। यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि लेखक ने इन चरित्रों के स्वतंत्र विकास की ओर ध्यान न देकर अंचल के संपूर्ण परिवेश को उपस्थित किया है, इसीलिए अनेक लघु-उपकथाएँ चलती रहती हैं और समाप्त होती रहती हैं। पात्र आते रहते हैं और फिर अदृश्य हो जाते हैं।

‘मैला आँचल’ में एक विशेष क्षेत्र पूर्णिया जिले के ‘मेरीगंज’ गाँव की कथा है, जिसका अपने जिले या राज्य से कोई संबंध नहीं है। लेखक ने उस क्षेत्र विशेष के यथार्थ जीवन पर अपनी दृष्टि को केंद्रित किया है। इस यथार्थ जीवन का आभास कथावस्तु में अनुस्यूत विभिन्न कथाओं, प्रसंगों, घटनाओं एवं चरित्रों की विभिन्न क्रियाओं से होता है जिनके द्वारा अंचल विशेष की स्थिति एवं समस्याओं का प्रभावशाली ढंग से निरूपण किया गया है। मेरीगंज गाँव के जीवन में जिस सामाजिक अशांति का चित्रण किया गया है, वह 1945-48 की वास्तविकता थी। यह समय सामाजिक चेतना का था। एक पिछड़े अंचल में आर्थिक समस्याएँ किस प्रकार मनुष्य को पशु से भी हीन बना रही थीं, ‘मैला आँचल’ में देखा जा सकता है। भूमि का नया बन्दोबस्त हो रहा था और ‘मलेरिया उन्मूलन’ अभियान प्रारंभ हो गया था। इसी यथार्थ भूमि पर एक पिछड़े समाज में स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक संबंध; शिक्षित और समाज सेवा के लिए उन्मुख डॉ. प्रशान्त के माध्यम से नयेपन का बोध; बालदेव, बावनदास, कालीचरण के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना; तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद, हरगौरी सिंह आदि के माध्यम से सामाजिक जीवन तथा सेवादास, रामदास के माध्यम से धार्मिक जीवन को परिकल्पित किया गया है। वस्तु-संरचना में यथार्थ का यह आधार विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत हुआ है, क्योंकि कोई कथा अथवा चरित्र प्रमुखता नहीं पाता है वरन् सभी का अपना-अपना महत्व है और वे सब मिलकर एक समग्र अंचल की कथा का निर्माण करते हैं। इसीलिए अंचल ही ‘नैरेटर’ (कथावाचाक) की भूमिका अदा करता है। परिकल्पित कथाओं का आधार भावनात्मक है और उसके तत्त्व-प्रेम प्रसंग, लोककथाएँ, लोकगीत, उत्सव, समारोह आदि में विशिष्ट शैली में प्रस्तुत किये गये हैं। इस वैविध्यपूर्ण जीवन को अंकित करने के कारण कथा बिखरी हुई दिखाई पड़ती है। डॉ. रामविलास शर्मा कथा की इस असम्बद्धता की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं—“यह सिनेमा के चित्रों के समान बहुत से शॉट इकट्ठे कर देता है, ये शॉट एक दूसरे से कितने विच्छिन्न हैं, इसका ध्यान नहीं रखता, एक ही अध्याय में तीन-चार बार ‘कट’ लगाकर पाठक को चौंधिया देता है। नतीजा यह है कि चलचित्र में जो सम्बद्धता होती है, उसका यहाँ अभाव है।” (*आस्था और सौन्दर्य : प्रेमचन्द की परंपरा और आँचलिकता* पृ. 119)

‘मैला आँचल’ की संरचना में इस बात को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि उसके कथानक का विभाजन आधिकारिक, प्रासंगिक या उपकथाओं के द्वारा नहीं किया जा सकता। आधिकारिक कथा में नायक की संभावना निहित रहती है और ‘मैला आँचल’ में किसी चरित्र की नायकत्व की स्थिति तक को नहीं उठाया गया है क्योंकि यहाँ नायक तो समग्र अंचल हैं। लेकिन आँचलिक उपन्यास में विभिन्न कथा-सूत्रों में फैली हुई कथाओं में कोई कथा प्रमुख प्रतीत होने लगती है और वह आधिकारिक कथा होने का आभास देती है। ‘मैला आँचल’ में डॉ. प्रशान्तकुमार और कमला की कथा गौण होकर भी अपनी अनुभूति की तीव्रता के कारण प्रधान दिखाई पड़ती है। इसका कारण प्रशान्त कुमार का व्यक्तित्व है जो अन्य पात्रों की तुलना में अधिक आकर्षक और प्रभावकारी बन पड़ता है। दरअसल लेखक ने डॉ. प्रशान्त और कमला की कथा के अंतर्गत दो भिन्न स्थितियों पर जटिल होने वाले यथार्थ को परिकल्पित किया है जो अंचल की विशिष्ट स्थिति को ज्ञापित करता है। डॉ. प्रशान्त मैलेरियोलाजिस्ट होकर मेरीगंज आया है। गाँव में उसका आगमन एक नई चेतना का सूचक है। अखिल भारतीय मेडिकल गजट में उसकी रिसर्च की रिपोर्ट प्रकाशित होती है और प्रशंसा हाती है। लेकिन डॉ. प्रशान्त और कमला के कथा-सूत्र में यह भूमिका साधारण प्रतीत होने लगती है जब डाक्टर पर मिट्टी का मोह सवार होता है और इस मोह के वशीभूत

होकर एक ओर वह गरीबों में राजनीतिक चेतना जाग्रत करता है तथा दूसरी ओर कमला से प्यार करता है। इन दोनों स्थितियों में उसके व्यक्तित्व का आकर्षण समग्र रूप से उभरता है। डॉक्टर अनुभव करता है—“बे जमीन आदमी, आदमी नहीं, यह तो जानवर है।” और वह अंचल में व्याप्त रोग की जड़ पकड़ लेता है—“‘गरीबी और जहालत’। उसने देखी है ऐसे लोगों को जो न जिन्दा रह सकते हैं और न मर सकते हैं...कफ से जकड़े हुए फेफड़े, ओड़ने को बिस्तर नहीं, सोने की चटाई नहीं, पुआल भी नहीं! भीगी हुई धरती पर लेटा न्यूमोनिया का रोगी मरता नहीं है, जी जाता है!...कैसे?” लेकिन इस गरीबी, गन्दगी और जहालत से भरी हुई दुनिया में उसने सौंदर्य को भी देखा है। “किशोर-किशोरियों और युवतियों के चेहरों पर एक विशेषता देखती है उसने...कमला नदी के गडढ़ों में खिले हुए कमल के फूलों की तरह। जिंदगी के भोर में वे बड़े लुभावने, बड़े मनोहर और सुन्दर दिखाई पड़ते हैं, किन्तु ज्योंही सूरज की गरमी तेज हुई, वे कुम्हला जाते हैं। शाम होने से पहले ही पपड़ियाँ पड़ जाती हैं। कश्मीर के कमल और पूर्णिया के कमल में शायद यही फर्क है...और कमला तो राजकमल है।” वह इस रुग्ण राजकमल का इलाज करता है, प्रेम करता है और फिर जीवन-संगिनी बना डालता है। गरीबों का हमदर्द होने के कारण जेल जाता है, लेकिन ग्राम्य गीतों को सुनकर ‘केस हिस्ट्री’ लिखना ही भूल जाता है। इस प्रसंग में कमला का चरित्र तो और भी गौण है। वह तो केवल प्रेम करती है। कमला का प्रेम उपन्यास की इस कथा में पूरी गहराई में व्याप्त है।

वस्तुतः डॉ. प्रशान्त के और कमला की कथा एक प्रासंगिक कथा है। जैसे अन्य प्रेमकथाएँ—‘बालदेव-लछिमी’, ‘कालीचरण-मंगला’ आँचलिक जीवन के यथार्थ का निरूपण करती हैं, वैसे ही डॉक्टर की कथा भी। अंचल की समस्याओं का चित्रण लेखक ने जिंदगी के इस विश्वास के द्वारा ही किया है इसलिए सभी कथाएँ और प्रसंग अभिन्न रूप से अंचल के यथार्थ को प्रस्तुत करते हैं। डॉक्टर प्रशान्त और कमला की कथा प्रमखता का आभास देने पर भी वस्तु-संरचना का मूल आधार नहीं बन पाती क्योंकि मस्तिष्क पर जन-जीवन की समस्याओं की छाप निरंतर अंकित रहती है। भावाकुलता के क्षणों में ये कथाएँ हृदय में गहरी रसात्मकता पैदा कर देती हैं, लेकिन मेरीगंज के जीवन की समस्याएँ भावुकता के शान्त होने पर फिर ऊपर आ जाती हैं। कई स्थलों पर इन कथा-सूत्रों के माध्यम से ठोस प्रश्नों को उठाया गया है—‘डॉक्टर ने कहा तुम लोग ही जमीन के असल मालिक हो।’ इतना ही नहीं वह कालीचरण से स्पष्ट करता है जिसमें तहसीलदार के विरुद्ध उसके विचार व्यक्त होते हैं—“तो क्या हुआ? तहसीलदार साहब गाँव के रईस हैं। मुझसे उम्र में बड़े हैं। कमला की बीमारी के चलते मुझे कुछ ज्यादा आना-जाना पड़ता है। वे मुझे बहुत प्यार करते हैं। वे मुझे बहुत प्यार करते हैं। मैं भी उन लोगों की इज्जत करता हूँ। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि मैं तहसीलदार साहब के अन्याय का भी समर्थन करूँगा अथवा पक्ष लूँगा।”

इस प्रकार ‘मैला आँचल’ में अंचल के सतह की कथा और सतह के भी नीचे दिया यथार्थ उद्घाटित हुआ है। सतह के ऊपर की कथा में जिन समस्याओं को उठाया गया है वे सामन्ती उत्पीड़न तथा सामन्ती व्यवस्था के समाप्तप्रायः चिह्नों को प्रकट करती है। उपन्यास की कथा का मूल स्वर भी यही है। सामन्ती अत्याचार और दासता के विरुद्ध मनुष्य की राजनीतिक चेतना और उसके विरुद्ध संघर्ष ‘मैला आँचल’ में प्रतिध्वनित हुआ है। मेरीगंज का जीवन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी प्रकार की समस्याओं से घिरा हुआ है। जातिगत विद्वेष अपनी चरमसीमा पर है। समस्त गाँव कितनी ही जातियों, उपजातियों में विभाजित है ऐसा लगता है कि गाँव में जितने लोग हैं उतनी ही जातियाँ, और सब एक-दूसरे से लड़ने-मरने के लिए तैयार। मेरीगंज नितांत देहात है जहाँ सप्ताह में एक बार डाक आती है। शहर में नाम सुना है और रेल देखी नहीं है। निकटतम रोटहट स्टेशन की दूरी सात कोस है। यह सब गाँव के पिछड़ेपन की द्योतक है। लेखक ने जाति-पाति के विद्वेषपूर्ण वातावरण को अनेक प्रसंगों में चित्रित किया है—“खेलावन सिंह यादवों को लोग नया मातवर कहते हैं लेकिन यादव क्षत्रिय टोली को अब ‘गुअर टोली’ कहने की हिम्मत कोई नहीं करता। यादव टोली में बाहरी मांस शाम को अखाड़ा जमता है। चार बजे दिन से ही शोभन मोची ढोल पीटता रहता है। ढाक ढिन्ना, ढाक ढिन्ना! ढोल के हर ताल पर यादव टोली के बूढ़े, बच्चे जवान डंड-बैठक और पहलवानी के पैतरे सीखते हैं।”

गाँव की सामाजिक जिंदगी की भीतरी तह स्वेच्छारिता से भरी हुई है। अंधविश्वास, संस्कार और अशिक्ष में मनुष्य का कोई नैतिक मूल्य नहीं रह जाता है। परिणामस्वरूप स्त्री-पुरुषों की यौन-स्वच्छाचारिता की खुलकर खेलने का मौका मिलता है। 'मैला आँचल' प्रसंगों में इसे उद्घाटित किया गया है। सहदेव मिसिर, फुलिया का पुराना प्रेमी है। लेकिन फुलिया की शादी खालसी में हो गई। फुलिया जब मायके आती है तो उसका रूप बदल जाता है—“फुलिया 'पुरैनियमा टीसन' से आई है। एकदम बदल गई है फुलिया। साड़ी पहनने का ढंग, बोलने-बतियाने का ढंग, सब कुछ बदल गया। तहसीलदार की बेटी कमली अंगिया के नीचे जैसे छोटी चोली पहनती है वैसी ही वह भी पहनती है। कान में पीतल के फूल हैं। फूल नहीं, फुलिया कहती है कनपासा। आँचल में चाबी का गुच्छा बाँधती है, पैर में शीशी का रंग लगाती है। फुलिया ने खालसी जो को छोड़ दिया है। क्योंकि वह किसी 'पतुरिया' से मुहब्बत करता है। फुलिया अब 'पैटमान जी' के यहाँ रहती है। पैटमान जी क्षत्री। असल बुन्देला क्षत्री है। सहदेव मिसिर हिम्मत करके फिर एक बार फुलिया के पास पहुँचता है। 'ढिबरी की रोशनी में सहदेव मिहिर फुलिया की आँखों की नयी भाषा को पढ़ता है...हवा के झोंके में ढिबरी बुझ जाती है।' नीचे की स्त्री रामलखन सिंह के बेटे से फंसी हुई है, उचितदास की बेटी कोयरे टोले के सरबन महतो से, हरगौरी सिंह अपनी खास मौसेरी बहन से फंसा हुआ है। बालदेव, लक्ष्मी दासिन से लटपटा गये हैं और कंठी ले ली है। लछमी की सुगंध से बालदेव खो जाता है। लछमी बालदेव से दिल की बात कह देना चाहती है। लछमी बालदेव से लिपट जाती है। बालदेव जी लछमी को संभालते हुए कहते हैं—“कोई देख लेगा।” कालीचरण ने चर्खा सेंटर की मास्टरनी मंगला को अपने घर में रख लिया है। शिवशंकर सिंह भी बेइज्जत हो चुके हैं। 'तहसीलदार की बेटी शाम से ही अधो पहर रात तक, 'डगडर' बाबू के घर बैठी रहीं है। चांदनी रात में कोठी के बगीचे में डगडर के हाथ से हाथ डालकर घूमती है। तहसीलदार साहब को कोई कहने की हिम्मत कर सकता है कि उनकी बेटी का चाल-चलन बिगड़ गया है। मठ के महन्तों का जीवन भी भ्रष्ट हो चुका है। वे दासियाँ रखते हैं, गांजा पीते हैं और ऐश करते हैं। सुमिरितदास बेतार से खबर फैलाता है। 'अरे कुछ मालुम है? महर्षि रामदास रामपियारिया को दासिन रखेंगे।”

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि लेखक ने अंचल में व्याप्त यौन-संबंधों को विभिन्न कथा सूत्रों के द्वारा प्रस्तुत किया है लेकिन उसी के साथ अंचल के जीवन में प्रेम तत्त्व की अवतारणा भी की गई है। डॉक्टर प्रशान्त और कमला के पारस्परिक संबंधों को जिस गहराई से प्रस्तुत किया गया है। वैसा अन्य संबंधों में नहीं दिखाई पड़ता। यद्यपि बालदेव-लछमी और कालीचरण मंगला के प्रसंगों में प्रेम-तत्त्व का अभाव नहीं लेकिन संपूर्ण अंचल की कथा होने के कारण अंचल में परिव्याप्त प्रेम-प्रसंगों को उभारना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इससे कथावस्तु में माधुर्यमय वातावरण की सृष्टि होती है।

'मैला आँचल' की वस्तु और संरचना में आर्थिक वैषम्य तथा राजनीतिक चेतना को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है अंचल की आर्थिक स्थिति अत्यन्त खराब है। वहाँ की जनता आर्थिक शोषण तथा जमींदार के अत्याचार से उत्पीड़ित है। राजनीतिक चेतना का सूत्रपात हो रहा है। लेकिन इस सबको लेकर आदि से अन्त तक कोई एक कहानी प्रस्तुत उपन्यास में नहीं मिलेगी लेखक ने कितने ही पात्रों तथा घटना-प्रसंगों के माध्यम से अंचल के इस जीवन्त यथार्थ को उद्घाटित किया है। पूरे गाँव में तीन-चार धनी व्यक्ति हैं शेष सब भूमिहीन, मजदूर तथा गरीब लोग हैं। अधिकांश ऐसे लोग हैं जो अंगूठे की टीप देकर पर्व-त्योहार पर मालिक लोगों से नाज आदि लेते हैं और फिर जिंदगी भर चुकाते रहते हैं—दो महीने की कटनी, एक महीना मड़नी, फिर साल भर की खटनी।' आजीवन कर्ज के बोझ से लदे हुए मालिक की बेगार करने की को लिए ही जैसे इन मजदूरों का जन्म होता है। गरीब और बेजमीन लोगों की हालत खम्भार में बैलों के झुंड जैसी ही है—'खम्भार में बैलों के झुंड में दबनी मड़नी हाती है। बैलों के मुँह में जाली का 'जाब' लगा दिया जाता है। गरीब और बे-जमीन लोगों की हालत भी खम्भार के बैलों जैसी है।' अनाज की कीमतें बढ़ रही हैं, लेकिन "छोट-छोटे किसानों की जमीने कौड़ी के मोल बिक रही हैं। मजदूरों को सवा

रूपया रोज मजूदरी मिलती है, लेकिन एक आदमी का भी पेट नहीं भरता।” तहसीलदार ने ‘कमला नदी के बगले में जो गड्ढा है उसी में जोंक पाल रखा था। जिसने तहरीर तलबाना या नजराना देने में देर की, उसे गड्ढे में चार घंटे तक खड़ा करवा दिया। पाँव के अंगुठे से लेकर जांघ तक मोटे-मोटे जोंक घुंघरू की तरह लटक जाते थे।” जमीन का नया बन्दोबस्त होता है। लेकिन जमींदार जमीन हड़पने की फिक्र में है तहसीलदार और जमींदार दोनों ही गरीबों को लूटते हैं, जमीनें हड़पते हैं, मजूदरों को मजूदरी नहीं देते, बेगार लेते हैं। जमींदार के विरुद्ध संगठित होकर संघर्ष करने की अपेक्षा गाँव के लोग जमीन छोड़कर शहरों को भागने के लिए तैयार हैं—“कटिहार में एक जूट मिल खुल रहा है...चलो दो रूपया रोज मजूदरी मिलती है। गाँव में अब क्या रखा है।”

लेकिन यह स्थिति बहुत दिनों तक चल नहीं सकती। ऐसा लगता है कि जनता को हेशा ठगा नहीं जा सकता। डॉक्टर कहता है—“और ऐसे इन्सान? भूखे, अतृप्त इन्सानों की आत्मा कभी भ्रष्ट नहीं हो, या कभी विद्रोह नहीं करे, ऐसी आशा करनी ही बेवकूफी है।” गाँव में बदलाव आ रहा है। गाँव के लोग अशिक्षित हैं लेकिन शिक्षा का प्रसार हो रहा है और शिक्षित पैदा हो रहे हैं। राजनीति को लेकर भी गाँव में गुटबन्दी है, लेकिन जागृति आने पर जनता राजनीति को समझने लगती है।

लेखक ने इस प्रकार अनेक कथा सूत्रों के माध्यम से एक अंचल के समस्याग्रस्त समाज का चित्रण किया है। लेखक गाँव की जिंदगी के बिखरे कथा-सूत्रों में आन्तरिक संगीत उत्पन्न करके लिए कुछ ऐसे संदर्भों की सृष्टि करता है जिससे अंचल का समस्त परिवेश जाग्रत होता है तथा उसे निश्चित धरातल तक राजनीतिक आधार प्रदान करता है। इस दृष्टि से बालदेव तथा कालीचरण की पवित्रता बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है बालदेव और कालीचरण दोनों ही आँचलिक जीवन से अभिन्नरूप में जुड़े हुए हैं। बालदेव गाँधीवादी विचारधारा का प्रचार करता है। गाँव की प्रगति को वह सरकारी तंत्र के माध्यम से विस्तार देने में सहयोग प्रदान करता है। गाँव में मलेरिया-सेंटर खुलने पर गाँव की रूढ़िवादी वर्ग-जिसमें जोतखी जी समेत संपूर्ण ब्राह्मण टोली शामिल हैं—विरोध करता है। लेकिन बालदेव गाँव वालों को उसकी उपयोगिता समझाता है। वह संपूर्ण अंचल में गाँधीजी के अहिंसा, प्रेम और शांति के सिद्धांतों के आधार सामाजिक आन्दोलन का सूत्रपात करने का प्रयास करता है। इस दृष्टि से उसे कुछ सफलता भी मिलती है। लेकिन शताब्दियों से शोषित जनता के लिए यह मार्ग बहुत धीमा और प्रभावहीन दिखाई पड़ता है। यादव-क्षत्रिय टोली का कालीचरण सोसलिस्ट विचार-धारा को मानने वाला है। यह जन साधारण के अधिकार और कर्तव्यों के लिए संघर्षशील रास्ता अपनाने को प्रेरित करता है। वह बालदेव के अहिंसावाद में विश्वास नहीं करता। युगों से पीड़ित व दुःखी लोगों को कालीचरण की बातें अच्छी लगती हैं—“कालीचरण आग उगलता है लेकिन सुनने वालों का जलता हुआ कलेजा ठंडा हो जाता है...जमीन, जोतने वालों की! पूंजीवाद का नाश!” कालीचरण के सक्रिय होने पर बालदेव उखड़ने लगते हैं। रामदास को उसका महंती का अधिकार दिखाने के लिए कालीचरण पंचायत का विरोध करता है। वह बालदेव का विरोध करता हुआ कह देता है—‘आप क्या गाँव के लोगों को उल्लू समझते हैं।’ मठ में आए उदंड नागा बाबा की पिटाई करके “सिकन्दरशाह बादशाह की तरह सीना तानकर खड़ा रहता है।” गाँव में हैजा फैलता है। बालदेव सहित सारा गाँव सुई लगाने का विरोध करता है। तब कालीचरण सारी हाट की घेराबन्दी करके जबरदस्ती सुई लगाने का प्रस्ताव रखता है और अपने सहयोगियों द्वारा अपने प्रस्ताव को कार्यरूप में परिणत भी करा देता है। बीमारी फैलने पर वह सबसे आगे अपने को सेवाकर्म के लिए प्रस्तुत करता है। यद्यपि कालीचरण सोसलिस्ट है तथा सोसलिस्ट विचारों से प्रभावित है लेकिन सोसलिस्ट दर्शन से अपरिचित है। शिक्षा के अभाव में उसके ज्ञान की सीमाएँ हैं। लेकिन वह ईमानदार और कर्मठ है। हर स्थिति में वह शोषण का विरोध करता है। छुआछूत का विरोध करता हुआ चमारों के साथ भात खा लेता है। वह स्पष्ट कहता है—जात दो ही हैं, एक गरीब और दूसरी अमीर। वह जमीन पर जोतने वाले के अधिकार की भी बात करता है—“जो जोतेगा वह बोयेगा, जो बोयेगा वह काटेगा, कमाने वाला खोयेगा, इसके चलते जो कुछ हो।” इस प्रकार किसान-मजूदरों में

राजनीतिक चेतना फैलाकार कालीचरण उपन्यास की संरचना में प्रगतिशील तत्त्व का समावेश करता है। लेखक ने इन दोनों पात्रों के क्रियाकलाप के माध्यम से अंचल के लोगों की राजनीति में हस्तक्षेप की शुरुआत की है। लेकिन इस सबके बीच संगठित राजनीति कार्यवाही नहीं दिखाई पड़ती। जिसके अभाव में गाँव की जनता को शोषण से मुक्ति का मार्ग स्पष्ट नहीं हो पाया। गाँव में राजनीतिक चेतना का पैदा होना और वह भी गाँव के व्यक्तियों के द्वारा ही एक महत्वपूर्ण परिवर्तन का संकेत है। परिणाम यह होता है कि गाँव की पंचायत के स्तर तक विरोधी स्वर उठने लगते हैं। बलदेव, जो मालिक की भैंसे चराता था, अपनी क्षमताओं का विकास करता हुआ गाँव के नेता के रूप में उभरता है। इससे गाँव की बेजुबान और असहाय जनता को बल मिलता है कालीचरण गाँव वालों में विद्रोह की भावना भरता है। पशुओं के समान सीधे इन्सानों में अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने का साहस पैदा होता है।

‘मैला अंचल’ में लेखक ने गाँव का चेतन तथा आधुनिक संसार से संपर्क दो अन्य सूत्रों से कराया है। ये सूत्र उपन्यास की संरचना में अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। डॉ. प्रशांत कुमार तथा बावनदास के माध्यम से गाँव वालों का जाग्रत और सक्रिय संसार से परिचय होता है। डॉ. प्रशांत कुमार गाँव वालों को मलेरिया से मुक्ति दिलाने के लिए एक अनुसंधानकर्ता के रूप में आता है, लेकिन अपने शोधकर्म की प्रक्रिया में वह गाँव की गरीबी से भरी जिंदगी देखकर द्रवित हो जाता है। डॉक्टर लाचार जनता की स्थिति सुधारना चाहता है। लेकिन उसे कम्युनिस्ट कहकर जेल में बंद कर दिया जाता है। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें वर्गचेतना और न्याय की बात करने वालों को भी कम्युनिष्ट कहकर सामाजिक प्रगति के द्वार बन्द कर दिये जाते हैं। लेखक ने रूढ़िवादी तत्त्वों के द्वारा डॉक्टर को गाँव की पतनोन्मुखी स्थिति का दोषी ठहराकर इस परिकल्पित कथांश को अधिक विश्वसनीय बना दिया है। गाँव के बारों में खलाती जी कहते हैं, “गाँव में ‘बनरभुत्ता’ लगा है। बन्दर का भूत। गाँव के गाँव इसी तरह साफ हो जाते हैं। कोई बन्दर मरा था इस गाँव में?”

“ठीक बात। एकदम ठीक। डागडर बाबू दो-तीन बन्दर पालते थे। न जाने कौन सुई दिहिन कि दोनों बेचारा केंहाते-केंहाते मर गया। रात भर किकियाया था, याद नहीं?”

“ठीक बात! ठीक बात। एह! यह डागडर ऐसा जुल्मी आदमी था। सारे गाँव को चोपट कर दिया।” ऐसे अंधविश्वासों और संस्कारों में आबद्ध गाँव वालों को डॉक्टर की सामाजिक चेतना और हमदर्दी कितनी कारगर हो सकती है? प्रस्तुत उपन्यास में भी यह प्रश्नचिह्न है। इन विषम परिस्थितियों में भी डॉ. प्रशांत, शांत और निष्काम भाव से अपना काम करता रहता है। वह अपने को समस्त भावनाओं के साथ अंचल को समर्पित कर देता है। डॉक्टर के इस व्यक्तित्व को एक और लोक-कथा से अनुस्यूत कर दिया गया है। कमला कहती है कि यह डॉक्टर नहीं ‘जिन’ है। एक बार कमला को गौरी-मौसी ने ‘जिन’ की कहानी सुनाई थी। कहते हैं कि ‘जिन जिस पर प्रसन्न हो उसको तुरन्त कुछ-से-कुछ बना देता है। रूपया पैसा, जगह-जमीन ढेर लगा देता है। और ‘जिन’ जब लेने लगे तो धान के बखार के बखार में चूहे लग जाएंगे...तम्बाकू पर ‘पत्थल’ गिर पड़ेगा, कोई बड़े ‘सेसन-केस’ में फंसना होगा।” ऐसी कितनी ही लोक-कथाएँ उपन्यास की संरचना में सहायक हुई हैं।

बावनदास गाँधी के विचारों का सक्षिप्त रूप दिखाई पड़ता है। अपने सिद्धांतों पर उसे अटूट आस्था है। वह गाँव के बाहर का व्यक्ति है। अन्याय तथा भ्रष्टाचार वह सहन नहीं कर पाता। जहाँ कहीं वह भ्रष्टाचार या अन्याय देखता है उसे भारत माता की याद आती है। भ्रष्टाचार देखकर और उससे भी अधिक भ्रष्ट व्यक्ति देखकर उसकी आत्मा कचोटती है। वह बालदेव को इस भ्रष्ट व्यवस्था की कहानी सुना रहा है—“बिलैती कपड़ा के ‘पिकेटिन’ के जमाने में चानमाल-सागरमल के ‘गोला’ पर पिकेटिन के दिन क्या हुआ था सो याद है तुमको बालदेव? चानमाल मड़वारी के बेआ सागरमल ने अपने हाथों सभी ‘भोलटियरो’ को पीटा था। जेहन में भोलटियरों को रखने के लिए सरकार को खर्चा दिया था। वही सागरमल आज नरपतनगर थाना कांग्रेस का सभापति है। और सुनोगे? दुलारचन्द करपरा को

जाते हो ने? वही जुआ कंपनी वाला। एक बार नेपाली लड़कियों को भगाकर लाते समय जो जोगबानी में पकड़ा गया था, वह कटहरा थाना का सिकरेटरी है।... भारतमाता और भी जार बेजार रो रही है।” इतना ही नहीं बावनदास पुरैनियां से लौट रहा है—‘वह गया था, ‘जुलूस’ हो रहा है’ सुनाने। उसने पुरैनियां में देखा, जुलूस हो रहा है।” “जिला कांग्रेस आफिस में जुलूस हो रहा है” उसे चारों ओर ‘जुलूम’ होता हुआ दिखाई पड़ता है। लेकिन बावनदास अपनी निष्ठा पर अड़िग है। उसे पता है कि कचहरी में जिले भर के किसान पेट बांधकर पड़े हुए हैं। दफा चालीस की दरखास्तें नामंजूर हो गई हैं। बावनदास सोचता है कि बे-दखल किसानों से वह क्या कहेगा—“जमींदारी प्रथा खत्म हो जायेगी? तब ये कांग्रेसी जमींदार लोग क्या करेंगे? सब ‘मिल’ खोलेंगे शायद। इसीलिए प्रायः हरेक छोटे-बड़े लीडर के साथ एक मारवाड़ी घूमता है।” चुनाव में जातिवाद और पैसे की धूम मचती है। बावनदास की भ्रम टूटता है और उसे ‘बस पाटी समान दिखाई पड़ती है। बावनदास विरक्त हो जाता है और बलिदान की यात्रा के लिए चल पड़ता है। चलने के पहले बावनदास अपने जीवन की सबसे मूल्यवान पूँजी महात्मा गाँधी के पत्रों की पोटली को बालदेव को सौंप देता है। मन में असाधारण निश्चय और विश्वास लेकर वह अकेला भ्रष्टाचार ब्लैक और चोरबाजारी का भंडाफोड़ करने कन्धे पर एक झोली लटकाकर चल देता है। भारत और पाकिस्तान के बीच तस्कर व्यापार करने वालों को वह पकड़ेगा...। “माघ की ठिठुरती हुई सदी!...पछिया हवा भी चलती है। लगता है आज की रात बदरीनाथ की तरह यहाँ भी बरफ गिरेगी। रामडंडी सिर पर आ गया। बावन निराश नहीं होता। जब तक सूरज नहीं उगेगा, वह टलेगा नहीं। बात कुछ ऐसी है। यदि इस रास्ते से नहीं आई गाड़ी तो...! वह दूर, बहुत दूर किसी गाँव की रोशनी को देखता है। दोनों हाथों को मलकर गर्म हो लेता है।...हाँ गाड़ियाँ आएगी। पचासों गाड़ियाँ। कपड़ा चीनी और सीमेंट से लदी हुई गाड़ियाँ। जिसने खबर दी है उसे-उसका नाम वह जान-जाने पर भी नहीं खोलेगा। बावन ने गाँधीजी की कसम खाई है। बेचारा गरीब...उसकी नौकरी चली जावेगी। कटहा के दुलारचन्द कापरा, वही जुआ कंपनी वाला, जिसकी जुये की दुकान पर, नेवीलाल, भोला बाबू और बावन ने ‘फारबिसगंज’ मेला में ‘पिकेटिन’ किया था। जुआ भी नहीं एकदम ‘पाकिट काट’ खेला करता था। और मोरंगिया लड़कियों, मोरंगिया दारू-गांजा का कार बार करता था, आज कटहा थाना कांग्रेस का सेक्रेटरी है। उसी की गाड़ियाँ हैं। ‘सपलाई निसिपट्टर’ और कटहा थाना के दरोगा और यहाँ कली मुद्दीपुर के नाका वाले दवलदार मिलकर रकम आठ आना और इधर दुलारचन्द कापरा रकम आठ आना। गाड़ियाँ सदर-चालू सड़क से नहीं जायेगी। ‘चोर पैडा’ (चोर रास्ता) होकर, चोर घाट होकर पार करेंगी। फिर उधर के व्यापारी को उस पार पहुँचा देगा। इधर के हाकिम हुक्कों को भी इस तरह हिस्सा मिलेगा। लाखों रूपया का कारबार है। वह आ गयी। हाँ गाड़ियाँ कच्ची लीक में पहियों की आवाज। हाँ गाड़ी ही हैं।” कन्धे पर झोली लटकाए बामन शिकार की तलाश में है—“कलीमुद्दीनपुर के सिपाही जी आगे बढ़ आते हैं, खूँखार कर पूछते हैं, कौन है?” बावनदास। दुलारचन्द कापरा देखता है बावन ही है। लेकिन “बावनदास ठीक पत्थर की मूर्ति की तरह खड़ा है, बीच लीक पर।” कापरा बावन से रास्ता छोड़ने को कहता है लेकिन बावन उस पवित्र दिन में उसे ललकारता है। कि वह भी कांग्रेसी है अतः सामने आ जाये। बावन मानता नहीं है—“तीन-चार! चार गाड़ियाँ?

अब बावनदास ठीक बैल के सामने आकर खड़ा हो जाता है। बैल उसे हुंत्था मारकर गिरा देता है। वह लीक पर लुढ़क जाता है! ठीक पहिये के नीचे!

मड़-मड़-मड़! बापू!...मां!

गाड़ी पास! कट-करर-कट।

इस प्रकार “बावन ने दो आज़ाद देशों की हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की, ईमानदारी को, इन्सानियत को, बस दो डेग में ही नाप लिया।”

बावनदास अपने आदर्शों पर बलिदान हो गया। निश्चित रूप से बावनदास के व्यक्तित्व और चरित्र का प्रभाव

मेरीगंज के लोगों पर पड़ा और उनमें ईमानदारी और आत्मबल उत्पन्न हुआ। लेकिन अन्याय का सामना करते हुए इस प्रकार अकेले शहीद हो जाने से समस्या का समाधान नहीं होता। उतना ही जागरूक और चेतना सम्पन्न व्यक्ति भी यदि कोई ठोस संगठन के लिए अगर कदम नहीं उठाता तो भ्रष्टाचार के उन्मूलन की संभावना कैसे की जा सकती है। विडम्बना यह है कि पेड़ आँचल का एक खूंट फाड़कर बाँध दिया है, मनोकामना पूरी हो तो नया 'चेथरा' चढ़ाऊँगी।" बहुत बड़ी आशा और विश्वास के साथ वह गिरह बाँध रही है—दो चिथड़े! उपन्यास के अंत में यह घटना इस बात का संकेत है कि किस प्रकार के अन्धविश्वासों से भरा पिछड़ा हुआ समाज अपनी परिधि में चक्कर काटता रहता है। पिछड़े हुए समाज में अन्धविश्वास पम्पराओं, संस्कारों की जड़ें कितनी गहरी होती हैं कि उन्हें बिना आमूलचूल सामाजिक परिवर्तन के दूर नहीं किया जा सकता। बावनदास के इस कथन—'भारत माता जार-बेजार हो रही है।' की अनुगूँज संपूर्ण उपन्यास में है। लेकिन वह अनुगूँज मात्र ही रह जाती है जैसे अनुगूँज थोड़ी देर में समाप्त हो जाती है वैसे ही उसका शहीद हो जाना स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ पाता।

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मैला आँचल' की कथावस्तु और संरचना अनेक घटनाओं, प्रसंगों, कथाओं, उपकथाओं तथा पात्रों के माध्यम से हुई है। कथा के सूत्र बहुत बिखरे हुए हैं लेकिन अंचल की समग्रता को संश्लिष्ट रूप में चित्रित करने में समर्थ है। उपन्यास का अन्तिम अंग डायरी और रिपोर्टाज का रूप ग्रहण करने लगता है। उपन्यास के दूसरे खंड के बाइसवें अंश में लेखक लिखता है—“तीन महीने बाद, 1948 साल के अप्रैल की सुबह।” और दूसरे एक-दो पृष्ठों के बाद ही 'चेथरिया पीर' का उल्लेख है। दरअसल उपन्यास तो यहीं समाप्त हो चुका है लेकिन उपन्यासकार ने डॉक्टर और कमला के प्रेम-प्रसंग को सार्थकता प्रदान करने के लिए उसे उस हद तक बढ़ाया जहाँ कमला शिशु को जन्मती है और अत्यन्त नाटकीय ढंग से उसी समय डॉक्टर घर में प्रवेश करता है। वह अत्यन्त आवेगमय होकर अपनी सहपाठिनी ममता को अपना निश्चय सुनाया है—“मैं फिर काम शुरू करूँगा। यहीं, इसी गाँव में। मैं प्यार की खेती करना चाहता हूँ। आँसू से भीगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहलहाएंगे। मैं साधना करूँगा। ग्राम्यवासिनी भारतमाता के मैले आँचल तले। कम-से-कम एक ही गाँव के कुछ प्राणियों के मुरझाये ओंठों पर मुस्कराहट लौटा सकूँ, उनके हृदय में आशा और विश्वास को प्रतिष्ठित कर सकूँ।” मेरीगंज जैसे पिछड़े हुए गाँव को बदलने के लिए उपन्यास के अंत में डॉक्टर का यह निर्णय बहुत रोमांटिक प्रतीत होता है।

वास्तव में आँचलिक जीवन स्थिर नहीं होता। उसमें निरन्तरता और प्रवाह होता है। 'मैला आँचल' में भी यह विशेषता देखी जा सकती है। लेखक ने सूक्ष्म व्यंग्यात्मक शैली में उपन्यास की संरचना की है जिसमें प्रवाह और गति है। लेकिन सामाजिक चेतना की आंतरिक संगति के कारण ही 'मैला आँचल' में लेखक कथा को पूर्णता की ओर ले जाने में समर्थ हुआ है।

व्याख्या के लिए महत्त्वपूर्ण स्थल

1. “तड़वन्ना के बाद..... दिखाई पड़ता है।” पृ. 9
2. “यहाँ गड्डों और तालाबों में.....शायद।” पृ.63
3. “खम्हार! साल भर की कमाई.....चक्र चलता है।” पृ. 92-93
4. “सोने के अनाज से भरे हुए.....यह कैसी बात है।” पृ. 131
5. “मैला आँचल.....कमला नदी के गड्ढे।” पृ. 148
6. “उसने देखा है.....और कमला तो राजकमल है।” पृ. 191
7. “कोठी के बाग में गुलमुहर.....झड़ रही है।” पृ. 193

8. “चैत की गोधूलि.....गीत गा रहे थे।” पृ. 193
9. “बुशशर्ट का युग है.....न सितारे ही जगमगाते हैं।” पृ. 203
10. “डॉक्टर पर वहाँ की मिट्टीजादू डाला है।” पृ. 232
11. “खेतों में फैली हुईवह तो जानवर है।” पृ. 233
12. “क्या करेगा वह संजीवनी.....इंसान बनाना।” पृ. 234
13. “कमली अपने बिछावन पर.....कर सकता है।” पृ. 348
14. “माघ की ठिठुरती हुई सर्दीपचासों गाड़ियाँ।” पृ. 400
15. “किसी दुखिया ने.....दो चिथड़े।” पृ. 415
16. “मैं फिर काम शुरू करूंगा.....प्रतिष्ठित कर सकूँ।” पृ. 425

(द्वितीय संस्करण 1957)

संभावित प्रश्न

1. आँचलिकता के आधार पर ‘मैला आँचल’ की समीक्षा कीजिए।
2. ‘आँचलिक उपन्यास की विधा और फणीश्वरनाथ रेणु का योगदान’ पर एक सारगर्भित लेख लिखिए।
3. ‘मैला आँचल’ की विशेषताएँ बताते हुए उसकी वस्तु-संरचना की समीक्षा कीजिए।
4. ‘मैला आँचल’ के किसी प्रमुख चरित्र की विशेषताएँ बताइए।
5. “जितना जीवन की गति की तीव्रता का अभ्यास ‘मैला आँचल’ में होता है उतना उसकी गंभीरता का नहीं।” इस कथन की समीक्षा कीजिए।
6. ‘मैला आँचल’ में चित्रित लोक-संस्कृति पर एक लेख लिखिए।

संदर्भ ग्रंथ

1. आस्था और सौन्दर्य—डॉ. रामविलास शर्मा
2. विवेक के रंग—सम्पादक डॉ. देवी शंकर शर्मा
3. हिन्दी उपन्यास—पहचान और परख—सम्पादक डॉ.—इन्द्रनाथ मदान
4. आँचलिक उपन्यास और उनकी शिल्पविधि—डॉ. आदर्श सक्सेना
5. लोक-दृष्टि और हिन्दी साहित्य—डॉ. चद्रवली सिंह
6. ‘सारिका’ (मासिक पत्रिका), अक्टूबर-नवंबर-दिसम्बर 1961
7. ‘कल्पना’, मार्च 1965

(ख) कहानी इकाई-3

उसने कहा था (चंद्रधर शर्मा गुलेरी)

—डॉ. रमेश उपाध्याय

परिचय

‘उसने कहा था’ कहानी के लेखक चंद्रधर शर्मा गुलेरी का जन्म 7 जुलाई, 1883 को जयपुर में महाराजा रामसिंह के राज-पंडित महामहोपाध्याय शिवराम शास्त्री के घर हुआ, जो कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश) के गुलेर नामक गाँव के मूल निवासी थे। बालक चंद्रधर का पालन-पोषण घर के वंशानुगत पौराहित्य, पूजा-पाठ, संध्यावंदन आदि के कर्मकांडी वातावरण में हुआ। उन्होंने संस्कृत की शिक्षा घर में ही पायी। आठ-नौ वर्ष की आयु में ही ‘अष्टाध्यायी’ के आरंभिक अध्याय और संस्कृत के दो तीन सौ श्लोक कंठस्थ कर उन्होंने प्रखर बुद्धि का परिचय दिया। नौ-दस वर्ष की आयु में उन्होंने संस्कृत में धाराप्रवाह भाषण देकर विद्वानों को चमत्कृत किया। अंग्रेजी की शिक्षा उन्होंने जयपुर के महाराजा कॉलेज में पायी। 1899 में इलाहाबाद से प्रथम श्रेणी में एंट्रेंस तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में मैट्रिक पास किया। 1900 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से अंग्रेजी, ग्रीक, संस्कृत, विज्ञान, गणित इतिहास, तर्कशास्त्र आदि विषयों में एफ.ए. तथा 1903 में प्रयाग विश्वविद्यालय से बी.ए. की परीक्षाएँ पास की। अपने शिक्षाकाल में ही उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण कार्य कर डाले, जैसे 1900 में जयपुर में ‘नागरी भवन’ की स्थापना, 1902 में कर्नल स्विंटन और कैप्टन गैरेट के साथ जयपुर स्थित वेधशाला के जीर्णोद्धार तथा शोधकार्य में लगकर ‘दि जयपुर ऑब्जर्वेटरी एंड इट्स बिल्डर्स’ नामक पुस्तक का सहलेखन, 1903 में ‘समालोचक’ नामक पत्रिका का संपादन और इसी बीच विभिन्न विषयों पर अनेक प्रकार का लेखन।

गुलेरी जी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा के धनी असाधारण विद्वान थे। संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रज अवधी मराठी, गुजराती, पंजाबी, बंगाली, अंग्रेजी, लैटिन, फ्रेंच आदि भाषाओं में उनकी अच्छी गति थी। वे भाषाविज्ञान, दर्शन, ज्योतिष, इतिहास, पुरातत्त्व, चित्रकला, संगीत, काव्यशास्त्र, वैदिक और पौराणिक साहित्य धर्म और राजनीति आदि विषयों के विद्वान थे। उन्होंने कविता, कहानी, निबंध संस्मरण, समीक्षा, जीवनचरित आदि अनेक विधाओं में तथा विपुल परिणाम में साहित्य रचना की। वे 1904 में अजमेर के मेयो कॉलेज में प्राध्यापक और 1922 में काशी के हिंदू विश्वविद्यालय में प्रोफेसर नियुक्त हुए। 1922 में काशी में ही उनका असामायिक देहांत हो गया।

गुलेरी जी ने कहानियाँ कम ही लिखीं। उनकी मौलिक तथा पूर्ण कहानियाँ तीन ही हैं—‘सुखमय जीवन’, ‘बुद्ध का काँटा’ और ‘उसने कहा था’ 1915 में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित ‘सरस्वती’ नामक पत्रिका में प्रकाशित ‘उसने कहा था’ उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी है। यह हिंदी की आरंभिक कहानियों में से एक है। लेकिन अपने कथ्य और शिल्प की उत्कृष्टता से चकित करती है। यह कहानी आज भी पुरानी नहीं पड़ी है और हिन्दी की श्रेष्ठ तथा प्रतिनिधि कहानियों में गिनी जाती है।

‘उसने कहा था’ की कहानी

‘उसने कहा था’ प्रथम विश्वयुद्ध (1914-1918) में अंग्रेजी की ओर से फ्रांस की भूमि पर जर्मन सेना के विरुद्ध लड़ने वाले भारतीय सिख सैनिकों की कहानी है, लहनासिंह नामक सैनिक के प्रेम और त्याग की मार्मिक कथा को केंद्र में रखा गया है। कहानी लिखने में पूर्वदीप्ति (फ्लैशबैक) की पद्धति अपनायी गयी है। अतः इसमें घटनाएँ सिलसिलेवार नहीं, आगे-पीछे होकर आती हैं। अतः उन्हें सिलसिलेवार सामने रखकर कहानी को समझना जरूरी है।

अमृतसर के भीड़ भरे बाजार में बंबू कार्ट वालों के बीच से निकलकर बारह साल का एक सिख लड़का ओर आठ साल की एक सिख लड़की संयोगवश एक दुकान पर आ मिले। लड़का माँझे का था और लड़की मगरे की। अमृतसर में दोनों अपने-अपने मामा के यहाँ आये हुए थे। उस दिन लड़का अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और लड़की रसोई के लिए बड़ियाँ। दही वाले की दुकान के पास एक टाँगे वाले का घोड़ा बिगड़ गया। लड़की की जान पर आ बनी। लड़के ने अपनी जान पर खेलकर उसकी जान बचायी। स्वयं घोड़े की लातों के बीच चला गया और लड़की को उठाकर उसने दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया। परिचय हो जाने पर लड़के ने पूछा, “तेरी कुड़माई (सगाई) हो गयी?” लड़की ‘धत्’ कहकर भाग गयी और लड़का मुँह देखता रह गया। दूसरे-तीसरे दिन सब्जी वाले के यहाँ, या दूध वाले के यहाँ, दोनों अकस्मात् मिल जाते हैं। दो-तीन बार लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा, तो लड़की बोली “हाँ हो गयी।.....कल, देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।” लड़की भाग गयी। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ी वाले की दिन भर की कमाई खोयी, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभी वाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने से नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अंधे की उपाधि पायी। तब कहीं घर पहुँचा।

पच्चीस वर्ष बीत गये। इस बीच लड़की फौज के सूबेदार की पत्नी के नाते सूबेदारनी हो गयी थी और लड़का लहनासिंह, फौज में जमादार हो गया था। उसकी भी शादी हो चुकी थी और वह एक बेटे का बाप भी बन चुका था। लड़की को वह भुल चुका था। एक बार वह सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकद्दमे की परैवी करने अपने घर गया था। वहाँ उसे रेंजिमेंट के असफर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है, फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा। जब चलने लगे, तब सूबेदार ने लहनासिंह से कहा, “सूबेदारनी तुमको जानती है। बुलाती है।” लहनासिंह भीतर पहुँचा। पता चला कि सूबेदारनी वही लड़की है, जो पच्चीस वर्ष पहले अमृतसर में मिली थी। सूबेदारनी रोते-रोते कहती है, ‘मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों की ए घघरिया पलटन क्यों न बना दी, जो मैं भी सूबेदार जी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज में भरती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार हुए पर एक भी नहीं जिया।.....अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हे याद है, एक दिन टाँगे वाले का घोड़ा दही वाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उसे दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे और मुझे उठाकर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।”

नंबर 77 सिख राइफल्स के सैनिक फ्रांस की भूमि पर जर्मनों के विरुद्ध लड़ रहे थे। खंदकों की लड़ाई चल रही थी। भयानक शीत, वर्षा और बर्फ में खंदक के भीतर पिंडलियों तक कीचड़ में धंसे हुए सैनिक मोर्चे पर डटे हुए थे। लहनासिंह, सूबेदार हजारा सिंह और सूबेदार का बेटा बोधासिंह भी उसी खंदक में थे बोधासिंह बीमार था।

लहनासिंह अपने सूखे तख्तों पर उसे सुलाता था, अपने दोनों कंबल उसे उढ़ाता था और स्वयं सिंगड़ी के सहारे कीचड़ में पड़ा रहता था। सूबेदार यह सब जानता था। उसने लहनासिंह से कहा, “कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है और ‘निमोनिया’ से मरने वालों को मुरब्बे (जमीन के टुकड़े) नहीं मिला करते”। इस पर लहनासिंह बोला, “मेरा डर मत करो! मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।” पलटन के विदूषक वजीरासिंह ने इस मृत्यु-चर्चा को रोककर सैनिकों को गीत गाने के लिए कहा। सबने मिलकर एक अश्लील सा गीत गाया और फिर ताजे हो गये। इतने में पलटन साहब के भेस में एक जर्मन अफसर खंदक में आ गया। उसने सूबेदार हजारासिंह को हुक्म दिया कि वह दस आमी छोड़ बाकी सबको साथ लेकर जर्मन खाड़ पर तुरंत धावा करे, जर्मनों से खंदक छीनकर जब तक दूसरा हुक्म न मिले, वहीं डटा रहे। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। लहनासिंह चलने का हुआ, तो बोधा के बाप सूबेदार ने बीमार बोधा की तरफ इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। सूबेदार सैनिकों को लेकर चला गया।

सूबेदार के जाने के बाद नकली लपटन साहब बनकर आये जर्मन अफसर ने लहनासिंह को सिंगरेट पेश करते हुए कहा, “लो, तुम भी पियो।” लहनासिंह समझ गया कि यह लपटन साहब नहीं, कोई और है, जो इतना भी नहीं जानता कि सिख सिंगरेट नहीं पीते। उसने बातों ही बातों में जर्मन अफसर की परीक्षा ले डाली और जब विश्वास हो गया कि यह आदमी लपटन साहब नहीं है, तो खंदक के भीतर जाकर वजीरासिंह को खंदक के पीछे से निकलकर सूबेदार के पास दौड़ जाने को कहा—“कहो कि एकदम लौट आये। खंदक की बात झूठी है।” वजीरासिंह को भेजकर लहनासिंह नकली लपटन साहब के पास आया, जो बमों से खंदक को उड़ाने जा रहा था। लहनासिंह ने बंदूक का कूदा मारकर उसे चित कर दिया और उसका मजाक उड़ाने के बाद कहा “चालाक तो बड़े हो, पर माँझे कालहना अतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आंखें चाहिए।” जर्मन अफसर ने मानो जाड़े से बचाने के लिए दोनों हाथ जेबों में डाले। जेब से पिस्तौल चला और लहना की जांघ में गोली लगी। इधर लहना ने अपनी बंदूक के दो फायरों से जर्मन अफसर का काम तमाम कर दिया। इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। लहना और उसके साथी उनका मुकाबला करने लगे। उधर सूबेदार हजारासिंह अपने सैनिकों के साथ लौट आया। जर्मन सैनिक दो पाटों के बीच में आ गये। सत्तर में से तिरसठ जर्मन हताहत हुए। भारतीय सैनिक विजयी हुए। लेकिन इस लड़ाई में लहनासिंह को भारी घाव लगा। उसने घाव को मिट्टी से पूर लिया और साफा उस पर कसकर कमरबंद की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना को दूसरा और भारी घाव लगा है।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दूर की खाई वालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया और वहाँ से झटपट दो डॉक्टर और बीमार ढोने वाली दो गाड़ियाँ आ पहुँची। फील्ड अस्पताल नजदीक ही था। लहनासिंह ने बीमार बोधा और उसके बाप सूबेदार को भेजते हुए कहा, “सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उन्होंने कहा था, वह मैंने कर दिया।” सूबेदार ने गाड़ी पर चढ़ते-चढ़ते लहनासिंह का हाथ पकड़कर कहा, “तैने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?” लहनासिंह बोला, “अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना और कह भी देना।” गाड़ी जाते ही लहनासिंह लेट गया। उसने वजीरासिंह को पानी पिलाने और खून से तर कमरबंद खोल देने को कहा। वजीरासिंह लहनासिंह का सिर गोदी में रखकर बैठ गया। लहना जब पानी मांगता, पिला देता। लहना मृत्यु से पहले जीवन के स्मृति-स्वप्न देखने लगा। जिनमें उसने अमृतसर में ‘कुडमाई’ वाली लड़की से लेकर सूबेदारनी से मिलने तक के स्वप्न चित्र देखें। मरते समय उसे लगा कि वह वजीरासिंह की गोदी में नहीं अपने भाई कीरतसिंह की गोदी में सिर रखे लेटा है। उसने वजीरा को कीरतसिंह समझते हुए कहा, “अबके हाड़ (आषाढ़) में यह आम खूब फलेगा, चाचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना

बड़ा तेरा भतीजा है, उतना ही यह आम है।” वजीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे। कुछ दिन बाद लोगों ने अखबारों में पढ़ा : फ्रांस और बेल्जियम-68वीं सूची मैदान में घावों से मरा-नं.77 सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

‘उसने कहा था’ का मूल्यांकन

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’ में लिखा है—“संस्कृत के प्रकांड प्रतिभाशाली विद्वान (और) हिन्दी के अनन्य आराधक श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी की अद्वितीय कहानी ‘उसने कहा था’ सं. 1972 अर्थात् 1915 की ‘सरस्वती’ में छपी थी। इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यंत निपुणता के साथ संपुटित है। घटना इसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है; पर इसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झाँक रहा है—केवल झाँक रहा है, निर्लज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा है। कहानी भर में कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगभता, वेदना, की बीभत्स विवृति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुँचता। इसकी घटनाएँ ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।” (सोहलवाँ पुनर्मुद्रण, सं. 2025 वि., पृ. 481-82)

‘उसने कहा था’ शुक्लजी की दृष्टि में प्रेम की यथार्थवादी किंतु सुरुचिपूर्ण कहानी है। लेकिन शुक्ल जी के बाद के लेखकों तथा आलोचकों ने इसे प्रेम की आदर्शवादी कहानी के रूप में सराहा। जैनेंद्र कुमार ने हिन्दी की कहानियों का प्रतिनिधि संग्रह तैयार करते हुए उसकी भूमि में लिखा—‘कहानी भारत की अपनी चीज है। वह उपनिषद् में पंचतंत्र और हितोपदेश में भी वही है। इन्हीं के माध्यम से वह विदेशों में फैली विकसित हुई और नाना रूप धरकर लोक-मन में बसी। आधुनिक कहानी हमने विदेशों से ही प्राप्त की। पर बाहर से इसकी सूचना ही आयी। सूचना आते ही हिन्दी की परंपरा जग पड़ी और उसने फिर अपने को अभिव्यक्त किया। यही कारण है कि यद्यपि हिन्दी की प्रारंभिक कहानियाँ तुतलाती और अटक अटक कर चलती हैं पर दो-चार वर्षों में ही उसने विश्वास से डग भरने शुरु किये। यह विश्वास प्रारंभ की जिस कहानी में बड़ी प्रतिभा से प्रकट हुआ, वह है गुलेरी जी की कहानी ‘उसने कहा था’ पहले महायुद्ध की पृष्ठभूमि में लिखी गयी यह कहानी अपनी सर्वांगता में ऐसी सुंदर है कि आज भी आनंद-विस्मय का कारण बनी हुई है। त्यागमय प्रेम का वह चित्र हमारे आदर्श की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए है।” (23 हिन्दी कहानियाँ संस्करण 2001, पृ. 11)

आदर्शवादी कहानी के रूप में ‘उसने कहा था’ का यह मूल्यांकन ऐसा सर्वमान्य-सा हो गया है कि लगभग सभी लेखक, आलोचक, अध्यापक, छात्र, शोधकर्ता आदि इसी को दोहराते हुए इसे त्यागमय प्रेम के आदर्श की कहानी मानते हैं। उदारहण के लिए गुलेरी-साहित्य के शोधकर्ता पीयूष गुलेरी ने इस कहानी के विषय में लिखा है—“संवेदना, प्रेम और कर्तव्य की दृष्टि से ‘उसने कहा था’ कहानी अद्वितीय है। कथानक का आरंभ बड़े सहज ओर स्वाभाविक ढंग से हुआ है आकर्षण भी सुकुमार रूप में होता है, जो धीरे-धीरे पवित्र प्रेम में परिणत हो जाता है। कालांतर में संयोगवश उस बालपन के प्रेम का पच्चीस वर्ष के अनंतर पुनः उदय होता है, परंतु तब वह विशुद्ध कर्तव्य में बदल जाता है और उसकी परिणित त्याग एवं उत्सर्ग के चरम बिंदुओं पर होती है।” (श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी: व्यक्तित्व और कृतित्व, 1983, पृ. 193)

पढ़कर लगता है कि जैसे गुलेरी जी ने ‘उसने कहा था’ त्यागमय प्रेम का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए ही लिखी थी। लेकिन इस कहानी का कथ्य केवल प्रेम नहीं है। कहानी कुछ और भी कहती है और उस ‘कुछ और’ के कारण ही यह हिन्दी की अद्वितीय तथा उत्कृष्ट कहानी है। शुक्ल जी द्वारा किये गये मूल्यांकन में कुछ पद पुनर्विचार करने योग्य हैं, जैसे—“सुरुचि की चरम मर्यादा”, “भावुकता का चरम उत्कर्ष”, “प्रेम का स्वर्गीय स्वरूप”, और पुनः “सुरुचि का सुकुमार स्वरूप”। शुक्ल जी इस कहानी के संदर्भ में ‘सुरुचि’ पर इतना जोर शायद इसलिए दे रहे थे कि जिस समय यह कहानी लिखी गयी थी, उस समय प्रेम की ऐसी कहानियाँ लिखी

जा रही थी। जिनमें प्रेम 'निर्लज्जता के साथ पुकारता या कराहता' था; जिनमें 'प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता' और 'वदेना की बीभत्स विवृति' हुआ करती थी। शायद ऐसी कुरुचिपूर्ण कहानियों की तुलना में ही शुक्ल जी ने 'उसने कहा था' को सुरुचिपूर्ण कहानी माना था। उनके लिए उस समय कहानी में सुरुचि का सवाल शायद ज्यादा महत्वपूर्ण था, इसलिए उन्होंने उन दो बातों पर अपेक्षित जोर दिया जिन पर उनका ध्यान गया था और जिनका उल्लेख भी उन्होंने किया था। उन्होंने एक तो 'पक्के यथार्थवाद' की बात की थी और दूसरी बात की थी कहानी-कला के संबंध में कि 'इसकी घटनाएँ ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।' जितना जोर उन्होंने सुरुचि पर दिया—और जिस तरह सुरुचि-कुरुचि का भेद स्पष्ट किया—उतना ही जोर यदि उन्होंने इन दो बातों पर दिया होता और उसी तरह इन दोनों बातों को भी स्पष्ट किया होता तो शायद हिंदी की भेड़चाल वाली प्रकृति के सज्जनों को इस कहानी में 'त्यागमय प्रेम के आदर्श' के अलावा कुछ और भी दिखायी देता।

हिन्दी में 'यथार्थवाद' के विरुद्ध 'आदर्शवाद' को खड़ा करने की प्रवृत्ति पुराने जमाने से चली आ रही है। यथार्थवादियों को आदर्शवाद पसंद नहीं और आदर्शवादियों को यथार्थवाद। लेकिन साहित्य के लिए दोनों जरूरी हैं। इसलिए प्रेमचंद ने दोनों को मिलाकर 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की परिकल्पना की थी और अपनी रचनाओं में उसे मूर्त रूप दिया था। ध्यान देने की बात है कि शुक्ल जी ने 'उसने कहा था' के संदर्भ में यथार्थवाद की बात तो कि, लेकिन आदर्श या आदर्शवाद का नाम भी नहीं लिया। परंतु बाद के लोगों ने इसमें यथार्थवाद कम और आदर्शवाद ही अधिक देखा। शुक्ल जी की 'पक्के यथार्थवाद' वाली बात को भुला ही दिया, यह भी भुला दिया कि इस कहानी की 'घटनाएँ ही बोल रही हैं।' क्या इस कहानी की घटनाएँ केवल यह बोल रही हैं कि यह 'त्यागमय प्रेम के आदर्श' की कहानी है? कुछ और भी? यदि कुछ और भी तो यह 'कुछ और' क्या है? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए 'उसने कहा था' को इसके संबंध में प्रचलित धारणाओं से थोड़ा अलग हटकर फिर से पढ़ने की जरूरत है।

'उसने कहा था' का पुनर्मूल्यांकन

गुलेरी जी ने यह कहानी पाँच भागों में बाँटकर लिखी है, जिनमें से केवल पहले भाग में उन्होंने भारत के शांतिपूर्ण जन-जीवन का चित्रण किया है, जबकि शेष चारों भाग प्रथम विश्वयुद्ध में फ्रांस की भूमि पर लड़ी जा रही लड़ाई से संबंधित है। इसमें संदेह नहीं कि प्रेम इस कहानी का एक महत्वपूर्ण विषय है। लेकिन प्रेम से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण विषय है युद्ध। यदि ऐसा न होता तो प्रेम से संबंधित घटनाएँ अत्यंत संक्षिप्त रूप में और युद्ध से संबंधित घटनाएँ इतने विस्तृत रूप में न आती।

कहानी के पहले भाग के बारे में कुछ आलोचकों का कहना है कि आरंभ में अमृतसर के बंबू कार्ट वालों का जो विस्तृत वर्णन है, वह व्यर्थ या अनावश्यक है। इसे केवल 'भूमिका' अथवा 'बाँधनू' बताते हुए कहा गया है कि उस समय कहानी शुरू करने से पहले ऐसे बाँधनू बाँधने का चलन था। गुलेरी साहित्य के शोधकर्ता पीयूष गुलेरी लिखते हैं कि गुलेरी जी की 'तीनों कहानियाँ भूमिका से आरंभ होती हैं। फलतः कहानियों का न कलेवर ही बढ़ा है बल्कि असंगतता ओर व्यर्थ विस्तार भी आ गया है।' (श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी: *व्यक्तित्व और कृतित्व*, 1983, पृ. 197) लेकिन क्या 'उसने कहा था' के आरंभ में बंबू कार्ट वालों का वर्णन सचमुच 'भूमिका' है? 'असंगत' और 'व्यर्थ विस्तार'?

इस तरह के फतवे कहानी को ध्यान से न पढ़ने पर ही दिये जा सकते हैं। या फिर एक बनी-बनायी धारणा के अनुसार इस कहानी को केवल प्रेम-कहानी मानकर पढ़ने पर। गुलेरी जी ने यदि यह कहानी केवल प्रेम-कहानी के रूप में लिखी होती तो अव्वल तो वे कहानी के पाँच भागों में से चार में युद्ध का वर्णन न करते और दूसरे, प्रेम से संबंधित एक घटना की सूचना कहानी के पाँचवें भाग में ने देकर पहले ही भाग में देते—और शायद केवल सूचना न देते, बल्कि उसका विस्तृत वर्णन या चित्रण करते। वह घटना युद्ध के मैदान में मरते हुए लहनासिंह के

स्मृति-चित्रों के बीच केवल सूचित की गयी है। घटना है दही वाले की दुकान के पास टांगे वाले के घोड़े के बिगड़ जाने और लड़के के द्वारा लड़की के प्राण बचाने की। यह घटना कहानी के आरंभ में ही आ सकती थी, लेकिन गुलेरी जी ने इसे घटित होते नहीं दिखाया, केवल सूचित किया। इसमें पीछे उनका क्या मंतव्य रहा होगा? आरंभ में इस घटना को घटित हाते दिखाया केवल सूचित किया। इसमें पीछे उनका क्या मंतव्य रहा होगा? आरंभ में इस घटना को घटित होते दिखाने के लिए 'भूमिका' तो उन्होंने बाँध ही दी थी, फिर घटित होते क्यों नहीं दिखाया? क्यों अपने आलोचकों को यह मौका दिया कि वे उसे 'भूमिका' को अनावश्यक, 'असंगत' और 'व्यर्थ विस्तार' बताकर उनकी कहानी-कला को लांछित करें? 'उसने कहा था' जैसी चुस्त-दुरुस्त और अत्यंत कलात्मक कहानी का लेखक इतना असावधान तो नहीं हो सकता कि वह यथास्थान एक ऐसी घटना को घटित होते दिखाने से चूक जाये, जो प्रेम-कहानी का बड़ा प्रभावशाली आरंभ हो सकती थी। इतनी ही नहीं घटना तो लहनासिंह के 'त्यागमय प्रेम' के 'त्यागमय प्रेम के आदर्श' की आधारशिला है। सूबेदारनी इसी घटना की याद दिलाते हुए उससे अपने पति और पुत्र को बचाने के लिए कहती है और कहानी का शीर्ष 'उसने कहा था' सार्थक होता है। स्पष्ट है कि गुलेरी जी का उद्देश्य प्रेम-कहानी लिखना नहीं, युद्ध की कहानी लिखना था। इस कहानी में प्रेम और युद्ध अंतर्विरोधी बनकर आये हैं और कहानी पाठक को इस प्रकार प्रभावित करती है कि वह अनायास ही प्रेम का पक्षधर युद्ध का विरोधी हो जाता है।

‘उसने कहा था’ में युद्ध की प्रमुख है

‘उसने कहा था’ प्रथम विश्वयुद्ध के समय लिखी गयी थी और इसमें उसी युद्ध का चित्रण है। इसमें खंदकों की जिस लड़ाई का वर्णन है, वह 1914 में फ्रांस की भूमि पर जर्मनों के विरुद्ध लड़ी गयी थी। उस समय भारत ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत ब्रिटिश सेना में भारतीय सैनिक भी थे। भारतीय सैनिकों में सिख सैनिक अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध थे। कहानी में सिख रेजीमेंट के सैनिकों का ही वर्णन है। लहनासिंह, हजारासिंह, वजीरासिंह आदि सभी सिख हैं। जब जर्मन फौजी अफसर लपटन साहब के भेस में आकर हजारासिंह को केवल दस आदमी छोड़कर बाकी सैनिकों के साथ बाहर भेज देता है और लहनासिंह उसकी चाल समझकर वजीरासिंह से कहता है कि वह सूबेदार और उसके साथ गये सैनिकों को लौटा लाये तो वजीरासिंह कहता है-‘पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।’ (वजीरासिंह जा रहा है और बोधासिंह बीमार पड़ा है इसलिए आठ।) यह सुनकर लहनासिंह कहता है-“आठ नहीं दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है।” फिर जब सूबेदार अपने सैनिकों के साथ लौटता है तो अचानक आवाज आती है-“वाहे गुरुजी की फतह! वाहे गुरुजी दा खालसा!! और फिर एक किलकारी-“अकाल सिक्खाँ दी फौज आयी! वाहे गुरुजी दी फतह! वाहे गुरुजी दा खालसा! सत श्री अकालपुरुख!” सिख सिगरेट नहीं पीते ओर मांस ‘हलाल’ किए हुए का नहीं बल्कि ‘झटका’ किये हुए बकरे का खाते हैं। ये बातें भी कहानी में यथास्थान आयी हैं।

पंजाबी सिख कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी धीरज नहीं खोते हंसमुख बने रहते हैं और नाच-गाकर अपने उत्साह तथा स्फूर्ति को बनाये रखते हैं, यह स्पष्ट करने के लिए गुलेरी जी ने सिख सैनिकों को ऐसी खंदक में दिखाया है, जहाँ “लुधियाने से दस गुना जाड़ा और मेंह और बरफ ऊपर से” है तथा सैनिक “पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं।” सूबेदार सैनिकों को बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंकने को कहता है तो उनमें से एक वजीरासिंह जो पलटन का विदूषक है, बाल्टी में गंदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकते हुए कहता है-“मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण। इस पर सब सैनिक खिलखिला पड़ते हैं और उदासी के बादल छंट जाते हैं।

इसी प्रकार जब लहनासिंह अपने मरने की बात कहता है तो वजीरासिंह त्योंरी चढ़ाकर कहता है-“क्या मरने

-मारने की बात लगायी है? मरें जर्मनी और तुरुक!" और तभी वह एक गीत शुरू कर देता है। गीत के बाद गुलेरी जी लिखते हैं—"कौन जानता था कि ढाढ़ियों वाले, घरबारी सिख ऐसा लुच्चों का गीत गायेंगे पर सारी खंदक इस गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गये, मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।"

यहाँ पर 'उसने कहा था' कहानी के प्रति शिक्षा जगत के द्वारा किये गये अन्याय की बात कहना आवश्यक है। यह कहानी देश भर के हिंदी पाठ्यक्रमों में विभिन्न स्तरों पर पढ़ायी जाती है, लेकिन पाठ्यपुस्तकों में इस अंश को जाने किन 'सच्चरित्र' महाशयों की कृपा से संपादित करके उस गीत को गायब कर दिया गया है। उन्हें शायद यह डर रहा होगा कि इस गीत को पढ़कर छात्रों का चरित्र बिगड़ जायेगा। लेकिन उन्होंने यह नहीं सोचा कि उस गीत को निकाल देने से कहानी का प्रभाव कितना कम हो जायेगा और उसके 'पक्के यथार्थवाद को कैसी क्षति पहुंचेगी! अवश्य ही वे 'सुच्चे' संपादक आदर्शवादी रहे होंगे और उन्हें कहानी में 'त्यागमय प्रेम का आदर्श' ही अभीष्ट रहा होगा। यदि वे देखते कि यह प्रेम कहानी नहीं बल्कि युद्ध की और युद्ध विरोधी कहानी है तो वे सैनिक जीवन के यथार्थ को सामने लाने वाले उस गीत को पाठ्य-पुस्तकों में से कदापि न हटाते। बहरहाल, कहानी का सही मूल्यांकन करने के लिए जरूरी है कि कहानी में उस गीत को यथास्थान अवश्य पढ़ा जाये, भले ही 'सुच्चो' को यह 'लुच्चों' का गीत पसंद ने आये। गीत इस प्रकार है:

दिल्ली शहर तें पिशौर नुं जांदिए,

कर लेणा लौंगां दा बपार मडिए;

कर लेणा नाड़े दा सौदा अडिए

(ओय) लाणा चटाका कदुए नुं।

कद्दू बणया वे मजेदार गोरिए

हुण लाणा चटाका कदुए नुं॥

(अरी दिल्ली शहर से पेशावर को जाने वाली, लौंगों का व्यापार कर ले और इजारबंद का सौदा कर ले। जीभ चटचटाकर कद्दू खाना है। गोरी! कद्दू मजेदार बना है। अब चटचटाकर उसे खाना है। गुलेरी रचनावली, भाग-1, सं. मनोहरलाल, 1991, पृ. 87)

इस गीत से सैनिक जीवन की वास्तविकता तो सामने आती ही है, अपने देश से बहुत दूर किसी अन्य देश की धरती पर लड़ते हुए सैनिकों द्वारा युद्ध के मैदान में शांति के दिनों के अपने देश को याद करने का सहज उपक्रम भी सामने आता है। इस गीत में केवल अश्लीलता देखने वाले यह नहीं देख पाये होंगे कि इसमें एक शांत और सुखी जीवन जीने वालों की कैसी मस्ती और जिंदादिली है। यह मस्ती और जिंदादिली युद्ध और मृत्यु की छाया में कितनी जरूरी है, यह बात युद्ध के अनुभवी किसी भी सैनिक से पूछकर जानी जा सकती है।

दरअसल हिंदी आलोचना, मूल्यांकन, इतिहास-लेखन और साहित्य-शिक्षण में भेड़चाल की ऐसी बुरी परंपरा है कि रचना के बारे में कोई विद्वान एक बार जो कह देता है उसी को दूसरे विद्वान दोहराते रहते हैं। शुक्ल जी ने 'उसने कहा था' को प्रेम कहानी कह दिया तो उनके बाद शिवदानसिंह चौहान जैसे इक्का-दुक्का आलोचकों को छोड़ बाकी सभी आलोचक इसे प्रेम-कहानी मानकर चलते रहे। उन्होंने यह नहीं देखा कि यदि इसे प्रेम-कहानी माना जायेगा, तो इसके युद्ध संबंधी बहुत-से विवरण अनावश्यक या फालतू लगेंगे और उन्हें इसमें 'व्यर्थ विस्तार' दिखायी देने लगेगा, जिसके चलते वे कहानी का उचित मूल्यांकन तो क्या सही सराहना भी नहीं कर पायेंगे। आचार्य नंदुलारे

वाजपेयी के साथ यही हुआ। उन्होंने इस कहानी के बारे में लिखा—“गुलेरी जी की ‘उसने कहा था’ कहानी बहुत ही अधिक स्थान और समय घेरती है और कहानी के नवीन प्रतिमानों को देखते हुए विराट या महाकाव्यात्मक कहानी (एपिक-स्टोरी) कही जा सकती है। लंबी कहानियाँ प्रसाद जी ने भी लिखी हैं और प्रेमचंद जी ने भी। इन दोनों की कहानियों में ‘उसने कहा था’ की सी बोझिल विशालता नहीं है।” (गुलेरी रचनावली, भाग-2, सं. मनोहरलाल, 1991, पृ. 473)। इस कहानी से एकी शिकायत रखने वालों को यदि इसका संपादन करने को कह दिया जाये तो वे एक गीत ही क्या शायद बहुत-से ब्यौरे काट-छांटकर कहानी में से निकाल दें।

लेकिन जो पाठक इसे युद्ध की कहानी के रूप में पढ़ेंगे उनकी प्रतिक्रिया कुछ और ही होगी। उनकी प्रतिक्रिया लगभग शिवदानसिंह चौहान की सी होगी, जिन्होंने लिखा था—‘उसने कहा था’ हिन्दी साहित्य में एक बेजोड़ रचना है। पहले महायुद्ध से संबंधित लहनासिंह की यह करुणा-मिश्रित कहानी एक साथ ही कथा-विन्यास, विचार-वस्तु रचना-तंत्र भाषा और शैली सभी दृष्टियों से इतनी प्रौढ़ संतुलित और सजीव रचना है कि आश्चर्य होता है कि हिन्दी कहानी के आरंभ में ही, जब आचार्य द्विवेदी अभी खड़ी बोली का साहित्यिक रूप स्थिर करने के भगीरथ प्रयत्न में संलग्न थे, गुलेरी जी ने कहानी की भाषा का यह प्रौढ़ किस तरह निखार लिया।’ (गुलेरी रचनावली, भाग-2, सं. मनोहरलाल, 1991, पृ. 479)

युद्ध-विरोधी कहानी

जो लोग ‘उसने कहा था’ को प्रेम कहानी समझते हैं वे न तो इसके भाव-सौन्दर्य को देख सकते हैं, न इसके शिल्प-सौन्दर्य को सराह सकते हैं। और वे लोग तो इसे प्रेम-कहानी के रूप में भी नहीं सराह सकते, जो इसमें ‘प्रेम का स्वर्गीय स्वरूप’ देखते हुए लहनासिंह और सूबेदारनी को ऐसे दिव्य नर-नारी के रूप में देखते हैं जिनका इस पार्थिव जगत के ठोस यथार्थ से मानो कोई संबंध ही न हो। काल्पनिक प्रेम कथाओं में भले ही प्रेम दिव्य और अलौकिक होता हो, यथार्थवादी कहानी में वह वास्तविक जीवन की जमीनी सच्चाईयों से जुड़ा होता है। यथार्थवादी कहानी में प्रेम करने वाले मनुष्य सामाजिक प्राणी होते हैं और समाज में वर्ग भेद के चलते वे किसी ने किसी वर्ग के होते हैं। इस दृष्टि से देखें तो लहनासिंह और सूबेदारनी का पति हजारासिंह पंजाब के किसान हैं। उनके पास या तो जमीन है नहीं, या बहुत कम है, या किसी मामले-मुकद्दमे में फंसी हुई है। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ऐसे भारतीय किसान सेना में इस प्रत्याशा के साथ भरती होते थे कि युद्ध में शौर्य प्रदर्शन करेंगे तो सरकार उन्हें जमीन देगी।

‘उसने कहा था’ का लहनासिंह किसान है इसका पता कहानी के इस वाक्य से चलता है कि ‘सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकद्दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया।’ अर्थात् उसकी जमीन किसी झंझट में फंसी हुई है और उस पर मुकद्दमा चल रहा है। खेती करने के लिए जमीन न होने पर उस समय के किसान अपने जवान लड़कों को फौज में भेज देते थे। ताकि फौज की नौकरी से परिवार की गुजर बसर होती रहे और युद्ध में बहादुरी दिखाने पर संभवतः सरकार खुश होकर जमीन का कोई टुकड़ा दे दे। ‘उसने कहा था’ कहानी अपने शीर्षक से लेकर पूरे कथा-विन्यास में जहाँ सार्थक होती है, वह है सूबेदारनी का रोते-रोते यह कहना कि ‘सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है पर सरकार ने हम तीमियों की एक घघरिया पलटन क्यों न बना दी, जो मैं भी सूबेदार के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज में भरती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार हुए पर एक भी नहीं जिया..... अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हे याद है, एक दिन टांगे वाले का घोड़ा दही वाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे आप घोड़े की लातों में चले गये थे और मुझे उठाकर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दानों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।’

‘उसने कहा था’ को प्रेम-कहानी मानाने वाले महानुभावों को एक बार अपने-आप से पूछना चाहिए: उसने वास्तव में क्या कहा था? उसके कहने और रोने में प्रेम के अलावा तत्कालीन भारतीय जन-जीवन और विशेष रूप से पंजाब के किसानों के जीवन-का कौन-सा यथार्थ व्यक्त हो रहा था? सूबेदारनी के इस कथन से जो यथार्थ सामने आता है, वह यह है कि सूबेदार हजारासिंह पंजाब का एक किसान है, जिसने फौज में भरती होकर ऐसी बहादुरी दिखायी है कि सरकार ने उसे जमीन दी है। लेकिन वह इसे अपनी बहादुरी का इनाम भर नहीं, बल्कि सरकार का ‘नमक खाना’ (कृतज्ञ होना) भी मानता है। इसलिए ‘नमकहलाली’ करना अपना कर्तव्य समझता है। इसी नमकहलाली के लिए उसने अपने पांच बेटों में से जीवित बचे एकमात्र बेटे को फौज में भरती करा दिया है। और अब उसके साथ स्वयं फिर से लड़ाई में बहादुरी दिखाने जा रहा है। सूबेदारनी भी सिख सैनिकों की इस नैतिकता से बंधी हुई है। उसका बस चलता, तो अपने एकमात्र पुत्र को कभी फौज में न जाने देती। लेकिन जमीन और उससे जुड़ी ‘नमकहलाली’ की नैतिकता के चलते वह मजबूर है। इसीलिए पति और पुत्र दोनों को लड़ाई के मोर्चे पर जाने दे रही है। साथ ही वह चाहती है कि ये दोनों युद्ध में मरे नहीं, किसी तरह उनके प्राण बच जायें। सहसा उसकी नजर सूबेदार के साथ लाम पर जाने को आये लहनासिंह पर पड़ती है और वह उसे पहचान लेती है। वह याद करती है कि इसने एक दिन मेरे प्राण बचाये थे। यह नेकदिल ओर बहादुर आदमी है। इससे प्रार्थना करनी चाहिए कि यह युद्ध में मेरे पति और पुत्र के प्राण बचाये।

उधर लहनासिंह भी किसान है। वह भी फौज में इसी इरादे से भरती हुआ लगता है कि युद्ध में बहादुरी दिखायेगा, तो उसे भी जमीन मिलेगी। लेकिन सूबेदारनी के दुख को समझकर वह उसके इकलौते बेटे की जान बचाने के लिए ऐसा त्याग करने लगता है कि स्वयं सूबेदार को उससे कहना पड़ता है—“रात भर तुम अपने दोनों कंबल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो। आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न मांदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है और ‘निमोनिया’ से मरने वालों को मुरब्बे नहीं मिला करते।”

‘मुरब्बे—अर्थात् ‘जमीन के टुकड़े’ जो लड़ाई में बहादुरी दिखाने पर मिलते थे, बीमार होकर मर जाने पर नहीं मिल सकते थे। लेकिन प्रेम कहिए या कर्तव्य, लहनासिंह को बीमार होकर मर जाना मंजूर है, पर सूबेदारनी ने जो कहा था, उसे भुला देना मंजूर नहीं। लेकिन बहादुरी तो वह दिखा ही देता है। नकली लपटन साहब के आदेश पर सूबेदार के चले जाने पर वहाँ के सबसे बड़े अफसर के रूप में जो कुछ करता है—नकली लपटन के साथ जिस तरह निपटता है, जिस सूझबूझ के साथ सूबेदार को वापस बुलाकर ने सिर्फ उसके प्राण बचाता है, बल्कि शत्रु के आक्रमण को भी विफल कर देता है—उसकी बहादुरी का ही नमूना है। लेकिन उसकी बहादुरी के बदले में उसे कोई ‘मुरब्बा’ नहीं मिलता। मरने वाले सैनिकों की सूची में उसका नाम केवल इस सूचना के साथ आता है कि ‘मैदान में घावों से मरा’।

जो लोग ‘उसने कहा था’ को प्रेम-कहानी समझते हैं, उन्हें न तो इस कहानी में भारतीय किसान दिखायी देते हैं, न सैनिक बनने की उनकी विवशत न उनकी ‘नमकहलाली’ करने और किसी को दिये हुए वचन का पालन करने की नैतिकता। उन्हें सूबेदारनी और लहनासिंह वास्तविक जीवन-जगत की समस्याओं से घिरे जीते-जागते मनुष्य नहीं केवल प्रेम करने वाले अलौकिक प्राणी प्रतीत होते हैं। वे शायद यह समझते हैं कि लहनासिंह और सूबेदारनी के बीच पहली भेंट में ही जो प्रेम हो गया था, वह निरंतर और जीवनपर्यंत बना रहा। लेकिन गुलेरी जी इस कहानी में कई संकेतों से पाठकों को यह चेतावनी सी देते हुए लगते हैं कि इसे प्रेम-कहानी ने समझा जाये उदाहरण के लिए एक संकेत यह है कि जिस समय सूबेदारनी और लहना सिंह पहली बार मिलते हैं, उस समय उनकी आयु

प्रेम करने की नहीं है। गुलेरी जी ने स्पष्ट लिखा है कि उस समय लड़का बारह वर्ष का था और लड़की मात्र आठ वर्ष की। आठ वर्ष की बच्ची तो शायद प्रेम शब्द से भी अपरिचित रही होगी। दूसरा संकेत यह है कि लड़कपन की उस घटना के बाद पच्चीस वर्ष तक दोनों की भेंट नहीं हुई। दोनों अपने घर-परिवार बसाकर अपनी-अपनी अलग जिंदगी जीते रहे। यहाँ तक कि लहनासिंह को 'उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह मिली थी या नहीं।' और तीसरा महत्वपूर्ण संकेत यह है कि सुबेदारनी जब लहनासिंह से अपने पति और पुत्र को बचाने की बात कहती है, तब अपने प्राण बचाने की उस घटना का जिक्र करती है जिसका पहले जिक्र करना लेखक ने उचित या जरूरी नहीं समझा। बिगड़े हुए घोड़े की चपेट में आती बच्ची को बचाना एक अत्यंत सामान्य घटना है। यदि गुलेरी जी को प्रेम-कहानी ही लिखी होती तो वे इस घटना को कहानी के आरंभ में अवश्य घटित होते दिखाते लेकिन तब लड़का और लड़की बारह और आठ वर्ष के न होकर प्रेम करने योग्य युवक-युवती होते।

इन संकेतों को समझते हुए कहानी को पढ़ा जाये तो गुलेरी जी का मंतव्य स्पष्ट हो जाता है कि उनके लिए 'उसने कहा था' प्रमुख रूप से युद्ध की कहानी है, जिसमें प्रेम आटे में नमक जैसा ही है यह सही है कि जिस तरह आटे में नमक का अपना महत्व होता है उसी तरह इस कहानी में प्रेम का अपना महत्व है प्रेम के कारण ही यह कहानी इनती मार्मिक और प्रभावशाली बनी है।

प्रेम यहाँ की भाषण भयावहता और अमानवीयता को उभारने का काम करता है। लेकिन कहानी की समीक्षा और मूल्यांकन का यह कोई तरीका नहीं कि आटे को भुलकर सिर्फ नमक को याद रखा जाये।

‘पक्का यथार्थवाद’

शुक्ल जी ने 'उसने कहा था' में जिस पक्के यथार्थवाद की बात कही है, उसका संबंध सामान्य जन जीवन तथा युद्ध के सजीव चित्रण से है। जीवन में अभाव, दुख समस्याएँ, विवशताएँ आदि हैं तो प्रेम, हँसी-खुशी, गीत-संगीत कर्तव्य और नैतिकता जैसी चीजें भी हैं। यथार्थवादी साहित्य में जीवन को उसके तमाम परस्पर विरोधी पक्षों के साथ उनके द्वंद्वत्मक किंतु समग्र रूप में देखा और दिखाया जाता है। गुलेरी जी ने 'उसने कहा था' में यही किया है। इसी के चलते वे कहानी में बेझिझक उस गीत को लिख पाये, जिसे स्वयं उन्होंने 'लुच्चों' का गीत कहा और जिसे पाठ्यपुस्तकों के संपादकों ने काटकर निकाल दिया। इसी के चलते उन्होंने इस कहानी में कारुणिक स्थितियों के साथ-साथ हास्यजनक प्रसंगों को भी पूरा महत्व और स्थान दिया। और इसी के चलते यह कहानी इतनी 'सर्वांग सुंदर' तथा प्रभावशाली बन सकी। जो पाठक गुलेरी जी के इस 'पक्के यथार्थवादी' को समझे बिना इसमें आदर्शवाद ही खोजेंगे और बनी-बनायी धारणा के आधार पर इसे केवल 'त्यागमय प्रेम के आदर्श' की कहानी सिद्ध करना चाहेंगे, उन्हें इसको समझने और सराहने में कठिनाई होगी। इस कहानी के यथार्थवाद को न समझ पाने पर ही लोगों को इसमें 'व्यर्थ विस्तार' और 'बौझिल विशालता'-नजर आती है। इसका अर्थ यह भी है कि इस कहानी के यथार्थवाद को समझे बिना इसके कथ्य को ही नहीं, शिल्प को भी सही ढंग से समझा और सराहा नहीं जा सकता।

“घटनाएँ ही बोल रही हैं”

शुक्ल जी की यह बात 'उसने कहा था' की कलात्मकता के संबंध में अत्यंत महत्वपूर्ण है। कहानी में घटनाएँ तभी बोलती हैं। जब उसमें जीवन का यथार्थ चित्रण ऐसी भाषा और शैली में तथा ऐसी तकनीक या तरकीब के साथ लिया जाये कि वह चित्रण सजीव हो उठे। 'उसने कहा था' की यही विशेषता है और अपनी इसी विशेषता के कारण इस कहानी का प्रत्येक पात्र अपनी चारित्रिक विशेषताओं के साथ स्वतः ही सजीव रूप में सामने आता है। लेखक को अपनी ओर से कुछ कहने या किसी पात्र के मुँह से अपनी बात कहलाने की जरूरत नहीं पड़ती। लेकिन घटनाएँ क्या बोलती हैं, यह बहुत कुछ पाठक या समीक्षक पर भी निर्भर करता है। यदि पाठक या समीक्षक

सजग नहीं है, या किसी बनी-बनायी धारणा के आधार पर किसी पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर कहानी पढ़ रहा है तो बहुत संभव है कि कहानी में बोलती हुई घटनाओं की भाषा ही उसकी समझ में न आये और वह कुछ का कुछ समझ ले 'उसने कहा था' को प्रेम-कहानी समझने की और युद्ध की कहानी न समझने की जो भूल लंबे समय से होती चली आयी है, उसका कारण यही हो सकता है।

निष्कर्ष

युद्ध की कहानी में लेखक के लिए आवश्यक है कि वह युद्धरत दो पक्षों में से किसी एक का पक्षधर हो। 'रामायण' में वाल्मीकि, 'महाभारत' में व्यास, 'युद्ध और शांति' में तोल्सतॉय की पक्षधरता को स्पष्ट रूप से देखा और पहचाना जा सकता है। इस दृष्टि से देखें तो 'उसने कहा था' में गुलेरी जी किसके पक्षधर हैं? वे न अंग्रेजी के पक्षधर हैं, न जर्मनों के। वे तो भारत की जनता के पक्षधर हैं, जो इस कहानी में सिख सैनिकों के रूप में दिखायी गयी है। यदि गुलेरी जी अंग्रेजी-भक्त होते तो वे लहनासिंह की बहादुरी के लिए उसे जमीन दिला देते मगर उन्होंने उसे अंग्रेजी के लिए नहीं, बल्कि सूबेदार और बोधासिंह के लिए अथवा सूबेदारनी का कहा करने के लिए मरते दिखाया है। अंग्रेज शासकों के लिए तो वह 'मैदान में घावों से मरा' एक सामान्य सैनिक है। उसकी मृत्यु गुलेरी जी ने गौरवान्वित नहीं किया। कहानी के अंत में वे उसकी मृत्यु की सूचना अखबार में छपी एक पंक्ति के रूप में ऐसे असंपृक्त भाव से देते हैं, जिससे लगे कि अंग्रेजों के लिए भारतीय सैनिकों की मृत्यु का कोई खास मतलब नहीं है। लेकिन भारतीय लोगों के लिए कहानी पाठकों के लिए उसकी मृत्यु एक करुणाजनक विडंबना है। सूबेदार जैसे जौ सैनिक में बहादुरी दिखाने के लिए जमीन पा जाते हैं, उनके प्रति गुलेरी जी ने 'नमकहलाली' शब्द से जो व्यंग्य किया है उसमें करुणा है। यह शब्द करुणा की साक्षात् मूर्ति सूबेदारनी स्वयं बोलती है और उसके स्वर में निहित विडंबना पाठक से छिपी नहीं रहती। इसी प्रकार युद्ध में घावों से मरने वाले लहनासिंह को मुरब्बे नहीं मिलते और उसकी बहादुरी एक बिडंबना बनकर रह जाती है।

इस प्रकार 'उसने कहा था' युद्ध की ही नहीं, युद्ध के विरोध की भी कहानी है और प्रथम विश्वयुद्ध का संबंध साम्राज्यवाद से था इसलिए हम अपने निष्कर्ष को आगे बढ़ाकर यहाँ तक भी ले जा सकते हैं कि युद्ध-विरोधी ही नहीं, साम्राज्यवाद-विरोधी कहानी भी है।

संभावित प्रश्न

1. 'उसने कहा था' कहानी की शिल्पगत विशेषताएँ स्पष्ट कीजिए।
2. 'उसने कहा था' कहानी की मूल संवेदना स्पष्ट करते हुए उसकी कथानक-संरचना पर प्रकाश डालिए।

कफन

(प्रेमचन्द)

—डॉ. मीरा सीकरी
मैत्रयी कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय

जब प्रेमचन्द ने कथा-साहित्य में कदम रखा उस समय तिलस्मी, जासूसी और ऐतिहासिक रोमांस लिखे जा रहे थे। ऐसे में प्रेमचन्द का समाज-दृष्टा व्यक्तित्व जीवन की महानता में निर्मम, सजग और संवेदनशील होकर प्रविष्ट होता है। कथा-साहित्य की तिलस्मी और जादुई दुनिया पर पूर्ण विराम लगाकर, कथा-साहित्य के लिए यथार्थ का दरवाजा खोल कर, व्यक्ति और समाज से परिचित करवाता है। काजी अब्दुल सत्तार के अनुसार “प्रेमचन्द ने कहानी की उड़न खटोले से उतार कर उसारे पर बैठा दिया।”

“साहित्य समाज का दर्पण है” यह युक्ति प्रेमचन्द के साहित्य पर पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। प्रेमचन्द अपने समाज के प्रति प्रतिबद्ध थे। वे साहित्य, की उपयोगितावादी दृष्टि में विश्वास रखते थे। जीवन का कोई भी पक्ष उनसे अछूता नहीं रहा। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक सभी प्रकार की समस्याओं को प्रस्तुत कर उनका समाधान भी उन्होंने दिया, क्योंकि प्रेमचन्द की दृष्टि सुधारवादी थी। आदर्श को समाने रखकर चलने के कारण उनकी कहानियों में उपदेशक का स्वर प्रमुख रहा। किंतु उनके साहित्य का बुनियादी ढाँचा परिवर्तनवादी है। इसका प्रमाण 1936 तक आते-आते प्रेमचन्द ने स्वयं ही अपने स्वप्नद्रष्टा स्वर को तोड़ा क्योंकि उनको अपने ही सपनों से निराश होने लगी थी, वे आदर्शों की निरर्थकता को पहचानने लगे थे। इसी मोहभंग के परिणामस्वरूप उन्होंने कफन, पूस की रात, गोदान, शतरंज के खिलाड़ी, आदि में अपने ही स्वर को तोड़ा और कहानी को नई नींव दी।

प्रायः होता यह है कि कुछ समय बाद लेखक सोचने के अपने तौर-तरीकों में ही सिमट कर रह जाता है। किंतु प्रेमचन्द के साथ ऐसा नहीं हुआ, इसी गतिशीलता के कारण ही प्रेमचन्द जीवित हैं और जीवित रहेंगे। पूस की रात, कफन और गोदान में आकर प्रेमचन्द का समाज तत्कालीन समाज का अतिक्रमण करने जाता है और इनकी रचनाओं में भविष्य अवतरित होने लगता है। इन कहानियों में विरामचिन्ह की जगह प्रश्नचिन्ह लगे हुए हैं। इनमें समाधान का संतोष न होकर समस्या का असंतोष है जो इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में “आधुनिकता की चुनौती का साक्षात्कार है।” इन्हीं कृतियों में ही प्रेमचन्द की संवेदना नया मोड़ लेती है। वे आचरण से चरित्र और चरित्र से चरित्र की आन्तरिक भूमि में प्रवेश करते हैं। व्यक्ति को महत्त्व देने की प्रक्रिया में कहानी का केन्द्र स्थूल घटना ने होकर मनोवैज्ञानिक अनुभूति होने लगती है। प्रेमचन्द की इस परिवर्तित मनोवृत्ति का परिचायक उनके ये शब्द हैं:

“गल्प का आधार अब घटना नहीं मनोविज्ञान की अनुभूति है। आज लेखक कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नहीं बैठता उसका उद्देश्य स्थल सौंदर्य नहीं। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है जिसमें सौंदर्य की झलक हो इसके द्वारा वह पाठक की सुंदर भावनाओं का स्पर्श कर सके।”

वस्तुतः ‘कफन’ और ‘पूस की रात’ जैसी कहानियों में प्रेमचन्द केवल हल्कू, घीसू, या माधव की कहानी ही नहीं करते प्रत्युत इनके माध्यम से विषय समाज में मानवीय विवशता, मानवीय करुणा और मानवीय गरिमा उद्घाटित करते हैं।

कफन सामन्तवादी शोषण का शिकार भूमिहीन किसानों के व्यक्तित्व के विघटन के अमानवीकरण की भयावह त्रासदी को सामने लाती है।

मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण पर आधारित समाज-व्यवस्था में घीसू और माधव जैसे व्यक्ति विपन्नता और मंहगाई से परम संतुष्ट है क्योंकि जिस समाज में वे रहते हैं वह क्रूर सामन्ती मूल्यों वाला समाज है जिसमें परिश्रम का कोई मूल्य नहीं बल्कि परिश्रम दूसरों के लाभ के लिए किया जाता है। यह सोचकर कि श्रम करना श्रम ने करने से किसी भी मायने में बेहतर नहीं वे श्रम और उसके कल के प्रति लगाव खो बैठते हैं। और धीरे-धीरे निकम्मेपन का शिकार हो जाते हैं। प्रेमचन्द के शब्दों में—

“जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से बहुत कुछ अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले में वे लोग जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा संपन्न थे। वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। हम तो कहेंगे घीसू किसानों से कहीं ज्यादा विचारवान था, जो किसानों के विचारशून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाजों की कुत्सित मण्डली में जा मिला था, हाँ उसमें यह शक्ति न थी कि बैठकबाजों के नियम और नीति का पालन करता। इसलिए जहाँ उसकी मंडली के और लोग गाँव के सरगना और मुखिया बने हुए थे। उस पर सारा गाँव उँगली उठाता था। फिर भी उसे यह तस्कीन तो थी ही कि अगर वह फटेहाल है, तो कम से कम उसे किसानों की सी-जी-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती। उनकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेजा फायदा तो नहीं उठाते।”

अपने निकम्मेपन से भले ही घीसू और माधव शीर्षकों को अंगूठा दिखा दे किन्तु विडंबना यह है कि भूख के सर्वग्राही आक्रमण में वे संपूर्ण मानवीय शीलगुणों और कर्तव्य-बोध से वंचित हो जाते हैं। त्रासदी यह है कि उनकी मानवीय चेतना इस हद तक जड़ हो जाती है कि बुधिया की प्रसव-वदेना की पछाड़ और दिल हिला देने वाली चीखों से निरपेक्ष बाप-बेटा चोरी के भुने हुए आलुओं पर टूट पड़ने की प्रतिस्पर्द्धा में हैं।

“माधव को भय था कि वह कोठरी में गया तो घीसू आलुओं का बड़ा भाग साफ कर देगा बोला—‘मुझे वहाँ जाते डर लगता है।’”

“डर किस बात का है मैं तो यहाँ हूँ ही।”

“तो तुम्हीं जाकर देखों न।”

ओझा को एक रुपया देने की संभावना से भी क्षुब्ध घीसू माधव इस प्रतीक्षा में है कि बुधिया मर जाये तो ये आराम से सोचें। और माधव की पत्नी धनाभाव के कारण मर जाती है। उसकी दाह क्रिया के लिए समाज चन्दा करके पाँच रुपये घीसू और माधव को देता है। वे दोनों कफन और लकड़ी खरीदने के लिए बाजार जाते हैं। सर्वप्रथम वे निश्चय करते हैं कि चन्दे में लकड़ियों के आ जाने के कारण अब लकड़ी खरीदने की आवश्यकता नहीं। कई बाजारों की दुकानें देखने के पश्चात् वे दोनों अनायास ही मानो किसी देवी प्रेरणा से एक मधुशाला में पहुँच जाते हैं। एक शराब की बोतल चिखोना और तली हुई मछलियाँ लेकर निजी सुख में डूब जाते हैं। घीसू इस सुख आनन्द लेते हुए कहता है—

“कफन लगाने से क्या निकलता? आखिर जल ही जाता, कुछ बहू के साथ तो न जाता।”

माधव आसमान की तरफ देखकर बोला, मानों देवताओं को अपनी निष्पक्षता का साक्षी बना रहा हो—“दुनिया का दस्तूर है, नहीं लोग बामनों को हजारों रुपये क्यों देते हैं। कौन देखता है, परलोक में मिलता है या नहीं।”

“बड़े आदमियों के पास धन है, चाहे फूँके। हमारे पास फूँकने को क्या है।”

“लेकिन लोगों को जवाब क्या दोगे? लोग पूछेंगे नहीं, कफन कहाँ हैं?” घीसू हँसा, “अबे कह देंगे कि रुपये कमर से खिसक गये। लोगों का विश्वास तो न आयेगा, लेकिन फिर वही रुपये देंगे।”

घीसू और माधव के अंतर को नग्नतम यथार्थ का उद्घाटन बेलाग होकर लेखक करता है। न जाने कब के भूखे-प्यासे आशान्वित और दुखी माधव और घीसू अपने पास रुपयों के आते ही एकाएक अपनी सारी झूठी मर्यादों, मान्यताओं को भूलकर अपनी आत्मा की यथार्थतम भूमि पर उतर पड़ते हैं। किन्तु यहाँ प्रेमचन्द की खूबी इस नग्न यथार्थ मात्र का उद्घाटन नहीं है और न ही घीसू और माधव के अमानवीय होने की प्रक्रिया का तटस्थ चित्रण है। प्रेमचन्द एक संवेदनशील कलाकार है। यहाँ उनके आक्रोश का केन्द्रबिन्दु मनुष्य मन की दुष्प्रवृत्तियों और कुरीतियाँ नहीं हैं। केन्द्र बिन्दु है-वह कु-व्यवस्था जिसके कारण यह सब होता है। विपरीत और विषम परिस्थितियों में श्रमजीवी पिसकर इतना टूट जाता है कि उसका कर्तव्यबोध लुप्त हो जाता है। उस पर बिडंबना यह है कि वह इस बात के प्रति स्वयं सचेत नहीं होता। क्योंकि उनके पास वे सुख-सुविधायें नहीं हैं, सामर्थ्य नहीं है कि वे उनमें से कुछ का त्याग कर महानता का अनुभव कर सकें। वे जानते हैं कि वे समाज पर निर्भर हैं और उनकी निरीहता और सरलता शोषण को बनाये रखने के लिए अनिवार्य है। ये लोग संख्या में तो बहुत हैं पर वे विचारशून्य समूह के अलावा कुछ भी नहीं। कारण कि इस सामन्ती समाज में शोषण का तंत्र इतना कठोर व निर्मम है कि विचारशून्यता उसका अनिवार्य परिणाम है। विचारों से ही मनुष्य, मनुष्य बनता है। और विचारहीन मनुष्य पशु के समान है। यदि इस समाज में असंख्य श्रमजीवी लोगों को मनुष्य की तरह जिन्दा रहने दिया जाता है तो उनमें विचार होता और जब विचार होता तो उन्हें यह अहसास होता कि उनका शोषण हो रहा है। तब वे एक होकर स्वाभिमानी मनुष्य की तरह जीवित रहने की कोशिश करते। इन श्रमजीवियों की दुर्दशा देखकर ही घीसू, माधव निकम्मे कामचोर और काहिल हो गये हैं। नैतिकता, प्यार, त्याग, कर्तव्य बोध आदि ऊँचे सामाजिक गुणों से रहित हो गए हैं। या कहें वे समाज के नियम कानून उसके लिए नहीं हैं। उनको मार-मारकर वहाँ खदेड़ दिया गया है जहाँ परावलंबी बनने के लिए वे विवश हैं। मार खाना, गाली सुनना, कर्ज से लदकर भी चिन्तामुक्त रहना उनकी प्रवृत्ति बन गई है। सदियों से घीसू, माधव जैसे व्यक्तियों को इस दुर्गति को अंगीकार करने का अभ्यस्त है और निरन्तर अभ्यास प्रवृत्ति बन जाता है, संस्कार बन जाता है। इस पर अर्न्तविरोध यह कि इस समाज के विधायकों को शोषण के साथ दया करने का भी अभ्यास है क्योंकि उनकी उच्चता के अहसास के लिए समाज में ऐसे लोगों का अस्तित्व जरूरी है जिन पर दया माया दिखाई जा सके। सत्ता संपन्न दया कर सकें और दूसरे विपन्न उस दया पर खुशी-खुशी निर्भर कर सकें।

उसका प्रत्यक्ष प्रणाम कहानी में लेखक उस समय देता है जब माधव चिन्तित होकर कहता है कि बचवा हो गया तो क्या होगा। उस समय घीसू उसे आश्वासन देता है—

“सब कुछ हो जायेगा भगवान दें तो। जो लोग अभी एक पैसा नहीं दे रहे हैं वे ही कल बुलाकर रुपये देंगे। मेरे नौ लड़के हुए, घर में कुछ न था मगर भगवान ने किसी तरह बेड़ा पार ही लगाया।”

प्रकट रूप में पनपता दया का यह मानवीय रूप वस्तुतः शोषण का वीभत्स अस्तित्व ही है। कारण कि यह दया शोषण की उच्चता के अहंकार को पुष्ट करती है। उनकी गर्दन को ऊँचाई देती है कि असंख्य लोग उनकी प्रजा है। यह समाज इन गुलामों को न ठीक से जीने देता है न ठीक से मरने देता है। क्योंकि उनका जिन्दा रहना उनकी उच्चता बनाये रखने के लिए जरूरी है और ठीक से जीवित रहने देने का मतलब है स्वाभिमान के साथ जीवित रहने का अधिकार देना। जबकि शोषक समाज के लिए मानवीय चेतना व मानवीय स्वाभिमान एक खतरनाक चीज है। चेतना को पैदा होने ही न दिया जाये। लोगों की आत्मा को उनके स्वाभिमान को, उनकी मनुष्यता को, इस तरह कुचल डाला जाये कि उनका अहसास ही न हो कि वे मनुष्य हैं।

घीसू, माधव और उस सरीखे लोग इतने समर्थ नहीं कि प्रत्यक्षतः इस व्यवस्था का विरोध कर सकें, पर अप्रत्यक्षतः प्रतिकार और प्रतिशोध की चेतना ही उन्हें शराबखाने की ओर ले जाती है। वे कफन के पैसों से कफन न खरीद शराब पीकर समाज में इस महान पुण्य की अवहेलना करके मस्ती की दुनिया में डूब जाते हैं। दार्शनिकता की तरंग में वे स्वर्ग-नर्क का विवेचन करते हैं और उनकी अन्तरात्मा की सच्चाई निर्भीक भाव से कह उठती है—

“हाँ बेटा! बैकुण्ठ में जायेगी। किसी को सताया नहीं, किसी को दबाया नहीं, मरते-मरते हमारी जिन्दगी की सबसे बड़ी लालसा पूरी कर गयी। वह न बैकुण्ठ में जायेगी तो क्या ये मोट-मोटे लोग जायेंगे, जो गरीब को दोनों हाथों से लूटते हैं और अपने पाप को धोने के लिए गंगा में नहाते और मंदिरों में जल चढ़ाते हैं।

यहाँ हैं विरोध चेतना की चिंगारी, जो शोषण के पहाड़ के नीचे दबी गरीबों की आत्मा में कही धीमे-धीमे सुलग रही है, जो घीसू के मुँह में सच्चाई के रूप में निकलकर चमक उठती है। गोदान के गोबर और गिरधर के मन में भी यही विरोध की चिंगारी सुलग रही है। गोदान के गिरधर के मन में अपने परिश्रम की कमाई को भोगने कि कितनी बलवती तड़प है, लेकिन वह वंचित और लाचार है। छिपाकर लाये पैसे से ताड़ी पीकर वह पूरी समाज व्यवस्था को मुँह चिढ़ाता है। शोषण और अन्याय की राख का पहाड़ इस विरोध की चिंगारी को दबाये हुए हैं पहले उसे हटाना पड़ेगा तभी यह अन्यायी व्यवस्था समाप्त हो सकेगी। अन्यथा घीसू माधव की चेतना शराबखाने में धराशायी होती ही रहेगी।

शैलेन्द्र यादव घीसू और माधव के व्यवहार को दि-क्लसिफिकेशन की प्रक्रिया में डिह्यूमेनाइज होना कहते हैं। उनके शब्दों में—“शतरंज के खिलाड़ी, पूस की रात, और कफन जैसी यथार्थवादी कलात्मक कहानियाँ लिखते हैं। जिनमें हल देने का कोई आग्रह नहीं है। इन्हें यथार्थवाद के उस रूप की कहानियाँ भी कहा जा सकता है। जहाँ आदमी वर्गहीन (दिलास) होने की प्रक्रिया में मानवता रहित (डि-ह्यूमेनाइज) होता है। ये सच है कि समान्तवादी शोषक परिवेश में घीसू माधव का कर्तव्य बोध लुप्त हो गया है और वे इसके प्रति अचेत भी नहीं हैं, तथापि प्रेमचन्द की अति संवेदनशील चेतना यहाँ देखने से भी नहीं चूकती कि उनके प्रत्येक व्यवहार से इतर उनका परोक्ष मानस बुधिया के प्रति रागबद्ध है जिसका ज्ञान चेतन रूप में स्वयं घीसू और माधव को भी नहीं है। इसका प्रमाण है “टागिनी क्यों नैना गाते हुए जब वे गिर पड़ते हैं तो ऐसा नहीं लगता कि उन्हें अपनी बहू, बीवी से मतलब नहीं था। उनके पीने-नाचने उछलने में अन्ततः यहीं उभरता है कि दोनों बुधिया को कितना चाहते थे। उनमें जीने की तीव्र भूख थी पर वे सामाजिक विषमता की चपेट में फंसकर कामचोर बने हुए थे।”

वस्तुतः प्रेमचन्द की परवर्ती कृतियों का बाह्य स्वर निर्ममता और तटस्थता का है जो सरल और कड़वे को बेबाक और बेझिझक अभिव्यक्ति देता है किन्तु इस बेबाकी के पीछे पार्श्व संगीत की तरह लेखनीय संवेदनशीलता प्रकट हए बिना नहीं रहती। इन्हीं कृतियों में आकर प्रेमचन्द अपने तत्कालिन देह, काल और समाज का अतिक्रमण कर अपनी रचनाओं में भविष्य और उसकी छवि को अवतरित कर रहे थे।

कहानी का रचाव व्यंग्यात्मक है। ये व्यंग्य पंक्तियों अथवा विशिष्ट शब्दों के मोहताज नहीं है। प्रत्युत संपूर्ण कहानी के विन्यास में व्यंग्य को देखा जा सकता है, जो घीसू और माधव के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था को ही चित्रित करता है। ये व्यंग्य झटका नहीं देते; सीधी चोट करते हैं।

“घीसू ने आकाश वृत्ति से साठ की उम्र काट दी और माधव भी सपूत बेटे की तरह बाप ही के पदचिन्हों पर चल रहा था बल्कि उसका नाम और भी उजागर कर रहा था।”

“और देने का गौरव, आनन्द और उल्लास उसने अपने जीवन में पहली बार अनुभव किया।”

संपूर्ण कहानी-घटना (प्रसव वेदना से छटपआती बुधिया की मृत्यु) एवं चरित्रों (घीसू, माधव के व्यक्तित्व के विघटन) का अतिक्रमण करती व्यापक जीवनस्तर पर मानव-मात्र के अमानवीय होने के संकट को उजागर करती है। ऐसे में कहानी के चरित्र मात्र-पात्र न रह कर प्रतीक बन जाते हैं। उस सांस्कृतिक संकट के, जहाँ चेतना के बुझे हुए अलाटों से कहानी शुरू होती है और शराबखाने में चेतना के धराशायी होने से समाप्त।

भाषा के जिस मुहावरे को प्रेमचन्द ने पकड़ा वह एक उपलब्धि है। प्रसाद की भाषा अपने में ही दम तोड़ कर रह गई पर प्रेमचन्द की भाषा का आज भी विकास हो रहा है। कारण, भाषा के प्रति जो खुलापन और जैसा रचनात्मक प्रयोग उन्होंने किया, वह दुर्लभ है। तत्सम शब्दों से प्रेमचन्द को परहेज नहीं है। प्रसव-वेदना, विचार-शून्य मनोवृत्ति आदि तत्सम शब्दों के साथ उर्दू के बेगैरत, दोजख, किफायत, खौफ, बेफिक्र, आदि शब्द भी प्रचुरता से मिल जाते हैं पर इन सब पर छोंक किसानों के परिवेश से संबद्ध शब्दों का है जो इन्हें विशिष्ट व्यक्तित्व देता है— चिखोत्र, पिसाद, चिलम, चुडैल आदि।

व्यंग्य को अधिक मारक बनाने के लिए प्रेमचन्द जनपदीय मुहावरों का प्रयोग करते हैं—

“जैसे दो बड़े-बड़े अजगर गेडुलिया मारे पड़े हों।”

“घर से पैसा इस तरह गायब था जैसे चील के घोंसले से माँसा।”

“मगर घीसू पर दया करना काले कंबल पर रंग चढ़ाना था।”

प्रेमचन्द की अभिव्यक्ति का सबसे बड़ा गुण है स्वाभाविकता। इनकी भाषा को हिन्दुस्तानी कहा जा सकता है जो भारत के आम आदमी की भाषा है जो शहर के बजाय गाँव का वासी है। हिन्दू भी है, मुसलमान भी है, किसान भी है, मजदूर भी है। जो इन्हीं के सुख-दुख आशा और निराशा को जीवन करती है। यह भाषा बोलचाल की भाषा है जिसे प्रेमचन्द ने मुहावरों की सजावट दी, कहावतों और सूक्तियों के अपूर्व सामंजस्य से व्यक्तित्वान बनाया और जो आज की पीढ़ी में “प्रेमचन्दीय भाषा” की संज्ञा से अभिहित की गई।

जिन्दगी और जोक

(अमरकान्त)

—डॉ. अजय तिवारी,
मुक्त शिक्षा विद्यालय

नयी कहानी आंदोलन ने स्वाधीनता के बाद जिन रचनाकारों को जन्म दिया, उनमें अमरकान्त अगली पांत के लेखक हैं। इनका महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि मोहभंग, कुंठा और विकृति के वातावरण को जीवन का आदर्श ने बनाकर उन्होंने मनुष्य के संघर्ष को अपने साहित्य का विषय बनाया। संघर्ष की ललकार से कहानी का 'क्रांतिकारी' फार्मूला गढ़ने की जगह अमरकान्त ने परिस्थिति की विभीषिका को गहराई से समझा और उसे पृष्ठभूमि में रखकर जीवन के लिये संघर्ष करने वाले चरित्रों को बेहद साधारण और उपेक्षणीय चरित्रों को अपना कथानायक बनाया। आजादी के बाद विभाजन और दमन के चलते मनुष्य का जीवन जितना दारुण और अर्थहीन हो गया, नये भारत के सपनों के टूटने से मानसिक स्तर पर जितनी हताशा और अवसरवाद का प्रसार हुआ, उसमें 'संघर्ष की ललकार' ही नहीं कुंठा-मोहभंग वाली कहानियाँ भी एक तरह का फार्मूला बन गयी। अमरकान्त की विशेषता यह है कि उन्होंने दारुण, पाशविक और अर्थहीन स्थितियों को व्यंजित करने के लिए और साथ ही साथ उनका प्रतिरोध करने के लिए रजुआ और मूस जैसे चरित्रों को अपना विषय बनाया। चरित्रों की इस खोज और चरित्रों के निर्माण में ही अमरकान्त की कलादृष्टि और समस्या निहित है। उनके चरित्र उनके यथार्थबोध से इतनी गहराई के साथ जुड़े रहते हैं। कि व्यक्तिगत आग्रह और रूचि के साथ देखने पर वे हमारे गले नहीं उतर पाते।

संयोग की बात नहीं है कि नयी कहानी के दो प्रमुख आलोचक डॉ. नामवर सिंह और डॉ. देवीशंकर अवस्थी अमरकान्त से अपनी रूचियों का तालमेल नहीं बैठा पाते। नामवर सिंह 'जिन्दगी और जोक' में 'उद्देश्य और कहानीपन' की एकता देखते हैं पर यह भी अनुभव करते हैं कि अमरकान्त की भावना को "और भी संवेदनशील होना है।" (नयी कहानी: संदर्भ और प्रकृति, पृ. 67) उद्देश्य की सर्जना और कहानीकार की उपलब्धि, दोनों का साधन भाषा है। अगर भाषा में पर्याप्त संवेदनशीलता नहीं है तो मनाना पड़ेगा कि उद्देश्य और कला के स्तर पर भी अमरकान्त को वैसी सफलता नहीं मिली। नामवर सिंह एक समर्थ लेखक हैं। निर्मल वर्मा, जो कहानी को कविता की तरह रचते हैं, जिस रचाव में वस्तु-व्यंजना गुम हो जाती है बची रहती है केवल भाषा और भाषा के कौतुक को ही संवेदनशीलता मानने के कारण नामवर सिंह अमरकान्त की कहानियों में पर्याप्त संवेदनशीलता नहीं पाते। देवीशंकर अवस्थी नामवसिंह की आलोचना-पद्धति से असंतुष्ट है। अमरकान्त के बारे में भी वे भाषा पर नहीं सीधे चरित्र पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं। 'मूस' के प्रसंग में वे कहते हैं कि 'रोचक और सहायक' होते हुए भी 'उपेक्षित या विचित्र चरित्रों को शोध-शोध कर लाने' के कारण उनकी कहानियाँ 'काव्य-उद्वेलक' तो होती हैं पर इनमें प्रवृत्तिगत नयापन नहीं है। (रचना और आलोचना, पृ. 129) इसलिए पाठक जल्दी ही 'एकरसता का अनुभव करने लगता है।' नामवर सिंह यथार्थवाद और कलावाद के बीच जिस दुविधा में खड़े थे, देवीशंकर अवस्थी उससे मुक्त हैं। वे यथार्थवाद को ही 'एकरसता' कारण मानकर अमरकान्त के चरित्रों को खारिज करते हैं। इस तरह की दृष्टियाँ न अमरकान्त को महत्त्व उजागर कर सकती हैं, न हिन्दी कहानी के विकास का रास्ता दिखा सकती हैं।

रजुआ अमरकान्त का देखा-जाना वास्तविक चरित्र है, जैसे प्रेमचन्द के अनेक चरित्र हैं। दूसरे विश्वयुद्ध के दिनों में "जब नौकर-चाकर फौज में भर्ती हो रहे थे, रजुआ पता नहीं किस बिल-सुराख से निकलकर आया था। काला, भुजंग, बदबूदार, डरपोक, हास्यास्पद, हर परिस्थितियाँ में जीने वाला, आत्मसमर्थन की होशियारी से हर

स्थिति को स्वीकार करने वाला-एक प्रतिशत हंसावा।” (अमरकांत : वर्ष-1 पृ. 28) निराला के बिल्लेसुर बकरिहा का वंशज। यह रजुआ सामाजिक जीवन के निरंतर विकृत होने जाने की वास्तविकता का बड़ा व्यंग्यपूर्ण उद्घाटन करता है। अमरकांत से परिचय उसका दूसरे महायुद्ध के दौरान हुआ था। और अमरकांत की कहानी के माध्यम से हमारे परिचय में वह स्वतंत्र भारत की पृष्ठभूमि में आता है। संदर्भ बदलते ही चरित्र की संकल्पना और समस्या का रूप भी बदल जाता है। निराला के बिल्लेसुर अंग्रेजी राज में तबाह गाँवों की पृष्ठभूमि में जीने का संघर्ष करते हैं इसलिए ‘दुश्मनों के गढ़’ में रहकर नफा-नुकसान उठाते हुए भी अपनी मर्जी से जीने के संघर्ष में काफी दूर तक सफल होते हैं। यहाँ लोगों की ‘दुश्मनी’ उनके निठल्लेपन का परिणाम है और निठल्लापन अंग्रेजी, राज में तबाह गाँवों की किंकर्तव्यविमूढ़ता का। रजुआ स्वाधीन भारत के एक शहरी मध्यवर्गीय मुहल्ले में आ टपका है, जैसे रात में आसमान से टपकर बेहाश हो गया हो।’ बिल्लेसुर बर्दवान जाकर गाँव वापस लौट आते हैं। रजुआ गाँव छोड़ने के बाद वापस नहीं जा पाता। गाँव में जीने के साधन निःशेष हो गये हैं और शहर के बेगानेपन में अशिक्षित, दुर्बल, रजुआ के लिए जीवन फिर एक समस्या है। जीवन पर आक्रमण करने वाली सामाजिक-ऐतिहासिक नियति के बीच ‘हर स्थिति में जीने वाला’ रजुआ ने सिर्फ एक व्यंग्य बनकर उपस्थित है, बल्कि उसका जीते रहना उस नियति से उसका प्रतिरोध भी है-चाहे जितना अनजाना जितना निस्संग और परोक्ष हो। इसलिए जब रजुआ के सिर पर कौआ बैठ जाता है और अपने मरने की झूठी खबर गाँव भेजने के लिए वह कहानी के वाचक के पास पोस्टकार्ड भेजता है, तब ‘पोस्टकार्ड लौटाते समय मैंने उनके चेहरे को गौर से देखा। उसके मुख पर मौत की भीषण छाया नाच रही थी और वह जिंदगी से जोंक की तरह चिपटा था-लेकिन जोंक वह था या जिंदगी? वह जिंदगी का खून चूस रहा था या जिंदगी उसका? मैं तय न कर पाया।’

कथाकार का यह अनिश्चय वस्तुतः व्यंग्य और प्रतिरोध की भिन्न संभावनाओं को एक साथ उभारने की कला का द्योतक है; वह उसकी संवेदना का अनिश्चय नहीं है। अमरकांत गोपाल बरई उर्फ रजुआ का भावुक चित्रण न करके सजीव और भरा-पूरा चित्रण करते हैं। वह जिस मुहल्ले में आ गया है, वहाँ अधिकांशतः निम्नमध्यवर्ग के लोग रहते हैं। वे न तो रजुआ को मरता देख सकते हैं न बिठाकर खिला सकते हैं, रजुआ खुद इतना शक्तिशाली ओर सामर्थ्यवान नहीं है कि ‘चौबीस घंटे नौकर की महान जिम्मेदारियाँ संभाल सके।’ इसलिए वह सबके घर खाता है, सबका काम करता है; सब उसे अपनी संपत्ति समझते हैं पर उससे लगाव नहीं रखते। अमरकांत ने लिखा है, ‘उसकी सेवाओं की उपयोग संबंधी खींचतान से उकसा समाजीकरण हो गया।’

शुरू-शुरू में उसे चोर समझा गया, शिवनाथ बाबू ने साड़ी चुराने का झूठा आरोप लगाकर पीटा तो अपनी सफाई में वह केवल इतना चिल्लता रहा कि ‘मैं बरई हूँ, बरई हूँ, बरई हूँ.....’ फिर धीरे-धीरे वह वहीं रच बस गया, बाबूओं के घर काम करता, ठिठाई भी दिखाता, खुद मुहल्ले भर का ‘साला’ बन गया और मुहल्ले की स्त्रियाँ उसकी भाभियाँ बन गयीं। एक दिन वह पगली को लिये एक प्रकट हुआ और दिन भर सामने क्वार्टर की छत के चक्कर लगता रहा, यहाँ उसने पगली को रखा था। राम को किसी लफंगे ने पगली पर अधिकार जमा लिया और रजुआ को बुरी तरह पीट दिया। चार-पाँच दिन बाद जब वह दोबारा दिखायी दिया तब फिर बदला हुआ था। रजुआ न सिर्फ ‘भगत’ बन गया बल्कि निचले तबके के लोग उससे तुलसीदास के किस्सों से लेकर महात्मा गाँधी के जीवन तक बहुत सी बातें पूछते हैं। उसे जब हैजा हो जाता है तो मुहल्लेवाला कोई उसके पास नहीं फटकता। उसके मरने की खबर पाकर वाचक (कथाकार स्वयं) सोचता है, ‘इस व्यक्ति ने सदा ऐसे प्रयत्न किये जिससे इसको भीख न मांगनी पड़े ओर इसको भीख मांगनी भी पड़ी है तो इसमें उसका दोष कतई नहीं रहा है।..... वह किसी का मुहताज न होना चाहता था और इसके लिए उसने कोशिश भी की जिसमें वह असफल रहा।’ लेकिन वह मरा नहीं था।

संक्षेप में यहाँ चरित्र के विकास की जो प्रमुख स्थितियाँ हम देखते हैं उसी में कहानी की समस्या भी मौजूद है। रजुआ जिंदगी को प्यार करता है और सम्मान के साथ जीना चाहता है। वह इसमें असफल रहा लेकिन अपने

प्रयत्न की कमी के कारण नहीं—‘इसमें उसका दोष कतई नहीं रहा।’ समस्या रजुआ के सफल या असफल होने की नहीं, उसके प्रयत्न की है और वह किसी भी स्थिति में यह प्रयत्न नहीं छोड़ता। इसलिए ऊपर से वह एक प्रतिशत इंसान दिखायी देता है और 99 प्रतिशत पशु, लेकिन उसका संघर्ष इस 99 प्रतिशत आरोपित पशुता को भेदकर उसकी मनुष्यता का साक्षात्कार कराता है। विषयवस्तु की यही खूबी चित्रण को प्रभावित करती है और ऊपर से जीवन जीने मात्र की कहानी मालूम होने पर भी वास्तव में यह जीवन की सार्थकता-निरर्थकता की समस्या पेश करती है। यह समस्या कहानी में चरित्र और परिस्थिति के द्वन्द्व से उत्पन्न होती है। परिस्थिति क्रमशः विजयी होती है और रजुआ असफल होता है। लेकिन इससे उसके संघर्ष का मूल्य नष्ट नहीं होता। बल्कि, उसके संघर्ष से स्वाधीन भारत के सामाजिक वातावरण की असली तस्वीर उभरती है। यह वातावरण मनुष्य के संघर्ष पर हावी होकर उसे निष्फल बनाती है। इसलिए वह नियति की तरह मनुष्य के कर्म और विवेक पर, उसके प्रयत्न और संकल्प पर छा जाती है। आजाद भारत में भाग्यवाद का यह एक बड़ा स्रोत है।

अमरकांत की रचना-दृष्टि की इस खूबी को ठीक से न समझने के कारण सुरेन्द्र चौधरी जैसे गंभीर आलोचक भी कहते हैं कि ‘हर आदमी उसे अपनी निजी संपत्ति में बदल देना चाहता है। मगर घिसुआ है कि किसी न किसी चालकी से अपना बचाव कर ले जाता है। इसी समाज में उसे बचाव की चालकी भी सिखायी है। मुहल्ला बदलकर वह अपने को स्वतंत्र कर लेने में किसी तरह समर्थ हो जाता है।’ (वर्ष-1, पृ. 148) अमरकांत का रजुआ सुरेन्द्र चौधरी की आलोचना तक आते-आते ‘घिसुआ’ हो गया। उसका नहीं बदला, ‘आत्मसमर्पण की होशियारी से’ समस्या भी बदल गयी। ‘अमरकांत का रजुआ’ हर स्थिति का स्वीकार करने के लिए” तत्पर रहता है, सुरेन्द्र चौधरी का ‘घिसुआ’ सारी चालाकी दिखाता है अपने को ‘स्वतंत्र करने के लिए! वह अपने को एक प्रतिशत मनुष्यता से स्वतंत्र करता है या 99 प्रतिशत शत्रुता से? पशुता की स्थिति उस पर आदि से अंत तक इतनी हावी है कि गधे की तरह काम करता है। कुत्ते की तरह दुत्कारा जाता है, सुअर की तरह चापुड़-चापुड़ करके बासी निवासी जो मिला खा लेता है जिस पर भी खुश रहता है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी के शब्दों में, “उसकी फरमाइश इतनी कम है कि उसे नाराज या दुखी कर पाना इस अमानवीय व्यवस्था के भी वश में नहीं है।” (उप, पृ. 122) इतना संकुचित होकर जीने की लड़ाई भी वह हारता है। क्या यही उसकी स्वतंत्रता है?

एक दूसरे आलोचक हैं डॉ. धनंजय वर्मा। वे थोड़ा और गहरे उतर कर कहते हैं, “रजुआ की पीड़ा केवल जीवन जीने की पीड़ा नहीं है,..... मानवीय अस्तित्व और व्यक्ति सत्ता के समाजीकरण की पीड़ा है।” (नयी कहानी: संदर्भ और प्रकृति, पृ. 196) क्या ‘सेवाओं की उपयोग संबंधी खींचातानी का यही अर्थ निकलता है? क्या रजुआ की समस्या ‘अस्तित्व की कहानी है’? या निर्धन व्यक्ति के आत्मसम्मान की कहानी है? अस्तित्व की समस्या उनके सामने आती है जिनके लिए खाने-पहनने-रहने की समस्याएँ नहीं होती। तभी वे जीवन की दार्शनिक अनुभूतियों की समस्या से उलझते हैं। रजुआ जीना चाहता है और भव्य तरके से नहीं, केवल सम्मान के साथ न मालिक या बाबू बनकर, न चोर न भिखारी बनकर बल्कि परिश्रम करके-एक आदमी का नौकर नहीं बन सकता तो पूरे मुहल्ले का नौकर बनकर लेकिन अपराधी समझा जाकर नहीं, विश्वास पाकर। इसलिए जब उस पर चोरी का आरोप लगता है तब वह बार-बार केवल अपनी जाति का नाम दोहरता है। “जैसे हर जाति के लोग चोर हो सकते हैं-बरई कतई नहीं हो सकते।” इस घटना के बाद भी वह मुहल्ले से जाता नहीं ताकि उस पर शक न हो, विश्वास हो। इसी विश्वास के सहारे वह टिका रहता है, खुल जाता है, ठिठाई शुरू करता है। रजुआ का यह स्वाभाविक और अदम्य चरित्र ऐसा है कि आग्रहों को भेदकर अपना असर डालता है, इसलिए डॉ. वर्मा यह भी लिखते हैं कि “जीवन में इतनी उद्दाम लालसा कि जीवन का अर्थ ही समाप्त हो चले और जीवन का इतना दुर्दमनीय बोझ कि अस्तित्व की सार्थकता ही मिट जाये”। (उप.) इसका अर्थ हुआ-अस्तित्व की ही नहीं, जीवन की सार्थकता-निरर्थकता का प्रश्न

भी है। जो 'व्यक्ति-सत्ता' समाजीकरण के विरोध में मानवीय अस्तित्व रचती है, उससे भिन्न रजुआ का अस्तित्व समाज के अंतर्विरोधों के बीच अपनी सार्थकता का संघर्ष करता है।

परिस्थिति, चरित्र, समस्या ओर भाषा का परस्पर संबंध अमरकांत की कहानी में किस तरह जुड़ा हुआ है, इस बारे में कहानीकार कमलेश्वर का यह कथन ध्यान देने योग्य है, "बहुत घुटन, बहुत टूटन, बहुत ऊब, बहुत विवाद, में जीता हुआ अमरकांत की कहानी 'जिंदगी और जोंक' का रजुआ जो एक-एक क्षण दांत से पकड़ कर जी रहा है, इसे किस रूप में मिलता है, वह तो एकदम अलग है ही, पर उसकी भाषा पर भी ध्यान देते जाइये....कथ्य के जीवित जीवन-खंडों के साथ उसकी भाषा भी स्वतः आ रही है।" (नयी कहानी की भूमिका, पृ. 207-209) (कथ्य और भाषा में अटूट एकता लाने के लिये) कथ्य जैसे जीवन खंडों में स्वतः आता है वैसे ही भाषा भी अमरकांत को अलग से प्राप्त नहीं करनी पड़ती, 'जीवित' यथार्थ के प्रति उनकी संवेदनशीलता इसे अनायास संभव करती है। इसीलिए ने उसकी भाषा अतिरिक्त संवेदनशीलता का प्रदर्शन करती है, न कला अपना स्वतंत्र अस्तित्व जताती है। भाषा, कला, चित्रण-कौशल, यह सब जीवन और संवेदना से, कहानी के कथ्य से अभिन्न रहते हैं; दोनों के बीच दरार नहीं होती, जैसा यथार्थवादी कहानी में, विशेषतः प्रेमचंद में, नामवर सिंह को दिखायी देती है।

दृश्य और भाषा एक-दूसरे के बिना हो नहीं सकते और अमरकांत के यहाँ दोनों से—“अपने परिवेश और समय से” स्वतः निसृत होते हैं। पानी देश और काल के गहरे दबाव में, उसकी निर्णायक ऊष्मा में अमरकांत की भाषा ढलती है क्योंकि उसी में उनका कथ्य ढलता है। इसीलिए कमलेश्वर का यह कहना सही लगता है कि “यह भाषा मरते हुए शानदार अतीत की नहीं उसी में से फूटते हुए विलक्षण वर्तमान की भाषा है। उस अनाम, अरिक्त, आदिम मनुष्य की जो पूज्य और संस्कार चाहता है, अपनी मानसिक दुविधा चाहता है।” (उप. पृ. 209) इसलिए यह भाषा अज्ञेय, जैनेन्द्र, निर्मल वर्मा की भाषा से अलग है। यह मरणासन्न यथार्थ की नहीं उसमें जीवित रहने की इच्छा और प्रयत्न की आशा और प्रतिरोध की भाषा है। रजुआ इस बात का अटल प्रमाण है। कमलेश्वर इस तथ्य को बेहतर समझते हैं इसलिए वे रजुआ को 'जिजीविषा', न कि 'स्वतंत्रता' का द्योतक मानते हुए लिखते हैं कि “यह जिजीविषा ही निर्णय की शक्ति देती है, जो 'रजुआ' जैसे पात्र के माध्यम से अपनी सत्ता की घोषणा करती है और लोगों के संस्कारों में बैठी मृत्यु को भी छलकर अपने अस्तित्व का होना साबित करती है।” (उप. पृ. 182) रजुआ की जिजीविषा का अमरकांत की चित्रण-पद्धति से, स्वभावतः उनकी रचना-दृष्टि से, यह संबंध है कि 'रजुआ संदर्भ कटा हुआ व्यक्ति नहीं है।' अपनी जिजीविषा के कारण ही 'सारे संदर्भों से जुड़ा हुआ है।' (पृ. 88) इसीलिए वह किसी भी फार्मूले में फिट नहीं बैठता, चाहे कलावाद का फार्मूला हो, चाहे यथार्थवाद का। वह न 'प्रतिनिधि' है न 'प्रतीक'। वह 'जीवित' चरित्र है। वह दूसरों का गवाह नहीं है, वह दूसरों से निरपेक्ष भी नहीं है; वह अपनी बाह्य परिस्थितियों का गवाह स्वयं है। और इसी 'व्यक्ति' रूप में इसकी मानवीय प्रामाणिकता है। शायद इसीलिए उसके जैसे चरित्रे देवीशंकर अवस्थी को 'विलक्षण' जान पड़ते हैं।

रजुआ के इस जीवित और भरे-पूरे चरित्र से ही कहानी की समस्या और कला का निर्माण हुआ है। यहाँ चरित्र-घटना, समस्या-संदेश, संवेदना-वातावरण के बीच कोई 'दरार' नहीं है बल्कि 'एकतथ्यता' का निर्वाह और चित्रण का धैर्य और तटस्थता एक साथ मौजूद है। अमरकांत रजुआ के माध्यम से पूरे मोहल्ले का चित्रण करते हैं—'एकतथ्यता' के साथ देश-काल का पूरा दायरा घेरते हैं। इससे कहानी में अर्थ की संभावनाएँ और यथार्थ का विस्तार दोनों उत्पन्न होते हैं। मूर्धन्य आलोचक डॉ. रामनिवास शर्मा इस बात को समझकर ही कहते हैं, 'जिंदगी और जोंक' में एक ओर मध्यवित्त बाबूओं की शोषण वृत्ति का चित्रण है जो गोपाल उर्फ रजुआ से गुलाम की तरह काम लेते हैं; दूसरी ओर उनके भाभियों से उसकी ठोली, पगली से उसका प्रेम और पगली के चले जाने पर उसकी मनोवृत्ति में परिवर्तन-यह सब ऊँचे दर्जे के कलाकार के अनुरूप चित्रित किया गया है।' (कथा विवेचना और गद्यशिल्प, पृ. 89)

मध्यवित्त बाबूओं की शोषणवृत्ति के बीच रजुआ के आत्मसम्मान की लड़ाई यह कहानी की समस्या है और गुलामी के बावजूद हंसी ठिठोली, प्रेम-निराशा आदि मनोभावों में जीना-यह चरित्र की विशेषता है। समस्या और चरित्र में जैसी एकता अमरकांत के यहाँ हैं उससे आलोचक परेशान होते हैं। डॉ. विजयमोहन सिंह उन्हें 'विशेष अर्थ में भारतीय' बताते हैं (कथा समय, पृ. 30) क्योंकि वे 'भारतीय निम्नमध्यवर्गीय मनुष्य की भावनाओं को जितना समझते हैं और उनका आदर करते हैं उतना ही इसके अंतरविरोधों को भी तीखे व्यंग्यात्मक ढंग से व्यक्त करते हैं।' (उप. पृ.) अमरकांत ऐसा कहते हैं क्योंकि उनके चरित्र अपने 'मनोविज्ञान' में नहीं जीते बल्कि मनोविज्ञान बाहरी समाज-संबंध से घनिष्ठ रूप से जुड़ा रहता है। रजुआ के प्रसंग में सभी घटनाएँ इसका उदाहरण हैं। इस समाज-संबंध के कारण मार्कण्डेय की दृष्टि में अमरकांत 'कलाकार से अधिक एक समाजशास्त्री हाने का भ्रम' उत्पन्न करते हैं। (कहानी का बात, पृ. 30) कलाकार तब होते जब 'नयी व्यवस्था और रूप के नये प्रतिमान स्थापित करते। (उप. पृ.) लेकिन वे ऐसा 'कलात्मक' श्रम नहीं करते हैं, 'समाज के वर्गगत स्वर' पर तैरकर 'स्वतः' उतर कर आने वाली सच्चाइयाँ पकड़ते हैं इसलिए चरित्र भी उन्हें बने बनाये मिल जाते हैं।' (पृ. 32) इस तरह अमरकांत एकदम गैर-रचनात्मक सिद्ध होते हैं।

चरित्र का सटीक चुनाव परिस्थिति और घटना से चरित्र का निर्माण और समस्या की व्यंजना, चरित्र और समस्या के अनुकूल वातावरण की पृष्ठभूमि-यह सब अमरकांत 'बना-बनाया' नहीं पा जाते, इसके लिए एक जिम्मेदार रचनात्मक सहानुभूति और दृष्टि की जरूरत होती है। विजय मोहन सिंह ठीक कहा था कि भावनाओं के समझ और अंतर्विरोधों की पहचान वास्तविक मनोविज्ञान की समझ है जिससे अमरकांत चरित्र और उनके संबंध चित्रित करते हैं, इसलिए उनमें गहरी सहानुभूति है; अंतर्विरोध को समझना सामाजिक जटिलता और परिवर्तनों को समझना है, जिनके संदर्भ में मनोविज्ञान उपस्थित होता है। इन दो स्तरों पर जागरूकता के नाते अमरकांत संदेश ने देकर भी मूल्य-दृष्टि देते हैं। यह मूल्य-दृष्टि यथार्थ परिदृश्य और व्यंग्य की अंतर्धारा के माध्यम से व्यंजित होती है। उनके चरित्र और स्थितियाँ अनेक सामाजिक स्तरों के बीच से उभरती हैं खुद रजुआ मध्यवर्ग के बाबूओं और 'निचली जाति' के स्त्री-पुरुषों के संपर्क में उभरता है। इससे एक परिधि बनती है जो यथार्थ के बड़े दायरे को कहानी की संवेदना में समेटती है। इसलिए चरित्र और परिस्थिति चरित्र और समस्या-चरित्र और उद्देश्य के बीच 'दरार' अमरकांत की कहानियों में नहीं है।

2. 'जिंदगी ओर जोंक' कहानी के माध्यम से न सिर्फ अमरकांत की कहानी कला के अनेक महत्त्वपूर्ण पक्ष सामने आते हैं बल्कि स्वतंत्रता के बाद कथा-परिदृश्य पर छा जाने वाले मध्यवर्ग की बहुत-सी सांस्कृतिक समस्याएँ भी सामने आती हैं। अमरकांत सरल स्वभाव के विनम्र और मितभाषी लेखक हैं। अपनी कहानी में भी वे खुद कम बोलते हैं। एक ऐसी तटस्थता अपनाते रहते हैं जो ऊपर से रूखी (और कभी-कभी कठोर) दिखायी देती है, पर भीतर से बहुत कोमल और करुण होती है। इसीलिए उनकी रचना की स्थितियाँ बड़ी प्रभावशाली और मार्मिक बन जाती हैं। उनका पाठक रो नहीं सकता, पर शांत भी नहीं रह सकता।

अमरकांत प्रेमचंद की परंपरा का विकास करने वाले लेखक हैं। इसके दो कारण हैं। पहला वे मनुष्य और जीवन को एक मूल्य मानते हैं। और यही उनके दृष्टिकोण का आधार है। दूसरा वे कला को समाज और विचारधारा से स्वतंत्र नहीं मानते, पर कला में यथार्थ जगत के जीते-जागते चित्र अंकित करते हैं। उपदेश नहीं देते, अपनी भावना से यथार्थ को विकृत नहीं करते। वे वास्तविक चरित्रों को विभिन्न परिस्थितियों में, विभिन्न सामाजिक शक्तियों के बीच रखकर ऐसा जीवंत और गतिशील चित्र प्रस्तुत करते हैं जहाँ स्थितियाँ खुद ही अपना मर्म प्रकट करती हैं, मूल्यांकन का विवेक और मानवीय दृष्टि की पहचान प्रस्तावित करती है।

हम देख चुके हैं कि अमरकांत की संवेदना में रजुआ का प्रवेश दूसरे महायुद्ध के दिनों में हुआ था। एक प्रतिशत इंसान और 99 प्रतिशत पशु-यह व्यक्ति मौत के विश्वव्यापी तांडव के खिलाफ जिंदगी से जोंक की तरह चिपका हुआ किसी बिल-सुराख से निकल कर संवेदनशील रचनाकार के अनुभव में आ जाता है। आतंक और जिजीविषा की प्रबल विरोधी शक्तियों में टकराव का नतीजा है यह रजुआ जो अमरकांत की कहानी में अनूठी अर्थच्छायाएँ प्रतिबिम्ब करता है। अमरकांत ने उसे स्वाधीन भारत की पृष्ठभूमि में अंकित करके व्यंग्य और विडंबना को और भी गहरा कर दिया है। जिंदगी को जोंक की तरह पकड़े हुए रजुआ सिर्फ जिजीविषा का प्रतीक नहीं है। जिंदगी भी जोंक बनकर उसे चूस रही है। वह मनुष्य के शोषण, उत्पीड़न और संघर्ष का प्रतीक भी है। वह उन करोड़ों दुःखी उपेक्षित हिन्दुस्तानियों का प्रतीक है जो जिंदा है सिर्फ चुसते जाने के लिए।

रजुआ के चरित्र को प्रेमचन्द की कहानी 'कफन' के घीसू-माधव से जोड़ते हुए डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है कि 'घीसू और माधव का सजीतीय पात्र 'जिंदगी और जोंक' का रजुआ है। जिंदगी उसको पीस रही है और वह भी इतना बेहया और जिंदगी-पूफ है कि उससे कुछ-न-कुछ रस अपने जीने भर का खींच ही लेता है। जिंदगी उसको चूस रही है और वह जिंदगी को चूस रहा है। 'रजुआ' को सब पीट सकते हैं, गाली दे सकते हैं, अपमानित कर सकते हैं, लेकिन उसे चाहे जिस परिस्थिति में डाल दीजिए वह बच निकलेगा प्रह्लादकी तरह।' (कुछ कहानियाँ : कुछ विचार)

बिना करुणा का प्रदर्शन किये, निस्संग तरीके से अमरकांत रजुआ की वस्तुस्थिति को, उसके मनोविज्ञान की जटिलताओं के साथ, चित्रित करते हैं। ऊपर से तटस्थ, रूखे और उदासीन रहते हुए भी, अमरकांत उसकी इस दारुण स्थिति से नाराज और दुःखी होते हैं। वे संवेदित होते हैं, इससे उनकी कथावस्तु निर्मित होती है, पर वे तटस्थ रहकर चित्रण करते हैं, इससे उनकी कला निर्मित होती है। अमरकांत की नाराजगी और दुख रजुआ के प्रति नहीं, उसे एक प्रतिशत इंसान और 99 प्रतिशत पशु बना देने वाली व्यवस्था के प्रति है। गुदड़ी बाजार के वचनराम का तेरह-चौदह साल का लड़का रजुआ की मृत्यु का पोस्टकार्ड लिखवा कर जाता है, तब लेखक सोचता है, "उसको देखकर मुझे सदा घृणा होती थी और कभी-कभी यह सोचकर कष्ट होता था कि इस व्यक्ति ने सदा ऐसे प्रयास किये, जिससे इसको भीख ने मांगनी पड़े.....।" रजुआ भीख नहीं मांगना चाहता किसी का मोहताज नहीं होना चाहता; जिन स्त्रियों को हम जिज्ञासा उपेक्षा और घृणा से देखते हैं, उनके संघर्ष और मनोभावों को पढ़ लेना अमरकांत की सहृदयता का काम था। रजुआ अपने सारे प्रयत्न के बाद भी असफल रहा। मनुष्य के प्रयत्न और संघर्ष को असफल कर देने वाली परिस्थितियाँ जिस अमानवीय सामाजिक व्यवस्था की देन है, अमरकांत का क्रोध और दुख उनके प्रति है। अमानवीय व्यवस्था के प्रति क्रोध और उसमें पिसने वाले रजुआ जैसे इंसानों के प्रति सहानुभूति यही 'जिंदगी और जोंक' का मूल कथ्य है।

व्यवस्था की अमानवीयता का संबंध समाज के ढांचे से और मनुष्यों के आपसी रिश्ते से है। व्यवस्था की इस अमानवीय से एक प्रकार का स्वार्थी आचरण और क्रूर संस्कार उत्पन्न होता है। अमरकांत जीवन-स्थितियों की योजना इस प्रकार करते हैं कि यह सारी प्रक्रिया अपनी पूरी सूक्ष्मता के साथ उभर आती है। रजुआ जिस मुहल्ले में आ टपका है, वह मुख्यतः निम्नमध्यवर्गीय लोगों का है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में निम्नमध्यवर्गीय के लोगों के जीवन की बड़ी सच्ची तस्वीर यहाँ अंकित की गयी है। उनमें इतना दया भाव बचा है कि वे रजुआ को भूखा मरते नहीं देख सकते। लेकिन अपनी आर्थिक स्थितियों और व्यावसायिक संस्कृति के प्रभाव के कारण उनमें इनता हिसाब-किताब आ गया है कि वे किसी को खाली बिठाकर खिला भी नहीं सकते। उसकी दुर्दशा देखकर लेखक सोचता है कि ".....यह कमबख्त एक ही मुहल्ले से क्यों चिपका हुआ है? घूम-घूम कर शहर में भीख क्यों नहीं मांगता?" रजुआ भीख मांगकर नहीं खाता, बल्कि जिनके यहाँ खाता है, उनका काम करता है। लेकिन वह इतना शक्तिशाली नहीं है कि "चौबीस घंटे नौकर की महान जिम्मेदारियों संभाल सके।" और मुहल्ले के लोग इतने समर्थ

नहीं हैं कि उसे स्थायी नौकर रख लें। वैसे भी “नौकर-चाकर किसी के यहाँ बहुत दिनों तक टिकते नहीं थे और वे भाग-भगाकर रिक्शे चलाने लगते थे, किसी मिल या कारखाने में काम करने लगते। दो-चार व्यक्तियों के यहाँ ही नौकर थे, अन्य घरों में कहार पानी भर देता, लेकिन वह गगरों के हिसाब से पानी भर देता और यदि एक गगरा भी अधिक दे देता तो उसका मेहनताना पाई-पाई वसूल कर लेता। इस स्थिति में रजुआ का आगमन जैसे भगवान का वरदान था।’

दूसरो की सेवा लेकर समाज में प्रतिष्ठा पाने का यह संस्कार सामंती व्यवस्था की देन है और पूंजीवाद ने उसे सुदृढ़ किया है। जिनकी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि नौकर रखने का दायित्व संभाल सकें, वे छोटी-मोटी सेवा के बदले रजुआ को बासी-तिबासी, बचा-खुचा खाना देकर दया-पुण्य भी कमाते हैं! हर व्यक्ति अपने से कमजोर को दबाता है। जो खुद एक जगह पीड़ित है वह दूसरी जगह अपने से छोटे का उत्पीड़न करता है। रजुआ ऐसे ही लोगों के मोहल्ले में आ पड़ा है। कोई उसे पूरी तरह रखना भी नहीं चाहता और उसकी सेवाएँ छोड़ना भी नहीं चाहता। फलस्वरूप “वह अब किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं, बल्कि सारे मुहल्ले का नौकर हो गया।” यही रजुआ की विडंबना है। साथ ही उसकी सेवाएँ पाने के लिए आपस में खींचतान करने वाले मुहल्ले के लोगों की भी बिडंबना है। उन लोगों की आपसी खींचतान का दंड भी रजुआ को भुगतना पड़ता है क्योंकि वह सबसे निर्बल है। शिवनाथ बाबू के यहाँ नई साड़ी खो गयी। चोरी का आरोप लगा रजुआ पर। उसे घंटो पीटा गया। वह अपनी सफाई भी नहीं दे सकता था क्योंकि मुहल्ले में बाहरी था। यानी बसे हुए ‘समाज’ से बहिष्कृत और गरीब। जमनालाल के लड़के जंगी ने उससे लकड़ी मंगायी। फौरन आने का वादा करके वह गया तो शिवनाथ बाबू के घर की औरतों ने उसे देर तक काम में उलझाये रखा। बाद में जब वह जंगी के पास आया तो ‘जंगी ने पहला काम यह किया कि दो थप्पड़ उसके गाल पर जड़ दिये’ और उसके बाद रजुआ को और रजुआ के बहाने धमकी-चेतावनी देता रहा-“आखिर हम भी मुहल्ले में रहते हैं कि नहीं।”

मुहल्ले का यह सामूहिक अधिकार सबसे अधिक इसी में प्रकट होता है कि वे रजुआ से काम लाने ओर उसे पीटने में बराबर का अधिकार रखें। वे रजुआ को मनुष्य नहीं समझते उससे सहानुभूति नहीं रखते; अपने स्वार्थ और दंभ की सीमा में उसका इस्तेमाल करते हैं, फिर भी रजुआ मुहल्ला छोड़कर नहीं जाता क्योंकि यहाँ वह धीरे-धीरे लोगों का “विश्वास और सहानुभूति” पाने लगता है, ‘दूसरी जगह उसी अनिश्चितता का सामना करना पड़ेगा। इससे भी उसके चरित्र का यह गुण प्रकट होता है कि वह श्रम करके, विश्वास पाकर मनुष्य की तरह जीना चाहता है। लेकिन उसकी गरीबी उसका दुर्भाग्य है। बाबुओं का स्वार्थपूर्ण व्यवहार उसके दुर्भाग्य को बढ़ाता है। वह जितना ही मनुष्य की तरह जीना चाहता है, उतना ही पशु बनता जाता है। वह सार्वजनिक सेवक है-नेता की तरह सेवा करने वाला नहीं, मुहल्ले भर के नौकर की तरह सेवा करने वाला। इसलिए वह गधे की तरह काम करता है, कुत्ते की तरह दुत्कारा जाता है, सुअर की तरह चापुड़-चापुड़ करके बासी-तिबासी जो मिला खा लेता है। आवश्यकताओं को सीमित करने का गाँधीवादी सुझाव उस पर लागू नहीं होता क्योंकि उसकी आवश्यकताएँ खुद ही बेहद कम है। फिर भी वह मनुष्य नहीं रह पाता। मध्यवर्गीय, टुच्चेपन के वातावरण में एक दरिद्र व्यक्ति का यह विकास पूरी सामाजिक संस्कृति पर व्यंग्य बन जाता है।

रजुआ गाँव से शहर आया था। उसके लिए यह अत्यंत स्वाभाविक था। गाँव से आकर शहर में रिक्शा चलाते मिल-मजूरी करने और कुछ नहीं तो रजुआ बनकर जीने की गुंजाइश थी। पूँजीवादी व्यवस्था जनता की भुखमरी, जहालत और सर्वग्रासी रोग-गरीबी का इलाज नहीं करती। वह उसे नयी दासता में घेरती है। रजुआ का कोई नहीं है। न शहर में, न गाँव में। न घर-बार है, न सगा-संबंधी न अपना नाम ही है। रामपुर में वह गोपाल बरई था। यहाँ वह खंडहर में रहता है। जो चाहे उसे चोर-चाई कह सकता है, जब चाहे पीट सकता है। वह गोपाल से क्रमशः रजुआ, रजुआ साला, रजुआ भगत बनता है। पूँजीवाद आदमी को अपने जैसा व्यक्तिहीन, अमानवीय-पशुवत-बना देता

है। नाम अगर व्यक्तित्व की पहचान है तो मकान उसकी हिफाजत और समाजिकता का जरिया है। किंतु पूंजीवाद आदमी को असुरक्षित करता है। रजुआ निरंतर इस विडंबना का शिकार बनता जाता है, लेकिन इस वास्तविकता को समझ नहीं पाता। इसलिए उसकी दयनीयता इतनी कारुणिक है और उसका अस्तित्व इतना पाशविक।

इस दयनीयता के बावजूद वह खुश रहता है, जीवन में रस के स्रोत खोज लेता है। जैसे-जैसे अपनी 'सेवा' से वह मुहल्ले में जमता जाता है, वैसे-वैसे लोग उससे खुलते हैं और वह लोगों से खुलता है। अमरकांत ने लिखा है कि 'अब वह मुहल्ले भर से शह पा रहा है। लोग अब उससे हंसी-मजाक भी करने लगे हैं। इससे वह भी कुछ शहजोर हो जाता है और मुहल्ले में छोटी जाति की औरतों को 'भौजाई' बना लेता है। जो लोग रजुआ से सशक्त थे वे उसे 'साला' कहते थे और जिन्हें वह अपने से कमजोर समझता था, उनकी औरतों को 'भौजाई' कहकर हंसी-ठठोली करता था। एक दिन वह एक पगली को ले आया। 'वह बदसूरत, काली और निहायत गंदी थी।' लेकिन रजुआ को उसके सिवा कौन-सी औरत मिल सकती थी। दिन भर वह उत्सुक रहा। लेकिन रात में कोई लफंगा पगली के साथ सोया मिला। उसने रजुआ को पीटा भी। पगली के आने पर उसकी चिंता और उत्सुकता फिर छिन जाने पर उसके व्यवहार में परिवर्तन-अमरकांत ने यह सब बड़े सूक्ष्म और संवेदनशील ढंग से चित्रित किया है। जिस तरह रजुआ से ताकतवर लफंगा पगली को उससे छीन लेता है, उसी तरह बरन की बहू रजुआ के जमा पैसे हड़प लेती है। रजुआ जितना ही जिंदगी में सहज होने के लिए छटपटाता है, उतना ही वंचना का शिकार होता है। कमजोर पर ताकतवर की चौरफा मार है। यही इस समाज का नियम है। यह नियम समाज का कम, जंगल का ज्यादा मालूम होता है। इसी जंगलीपन का नतीजा है कि रजुआ जैसे लोग मनुष्य नहीं रहने पाते क्योंकि वे ताकतवर नहीं हैं और जो ताकतवर हैं वे खुद मनुष्य नहीं रह जाते।

इस सामाजिक व्यवस्था और नैतिक संस्कार का एक स्तर और है। शिवनाथ बाबू के यहाँ साड़ी चोरी के आरोप में पिटाई के दौरान छोटा लड़का बता जाता है कि साड़ी घर में ही मिल गयी। लेकिन वे सबसे सामने सच्चाई कबूल करने के बजाय दया का प्रदर्शन करते हुए कहते हैं कि 'अच्छा इस बार छोड़ देते हैं। साला काफी पा चुका है, आइंदा ऐसा करते चेतेंगे।' इस अमानवीयता के आगे रजुआ का चरित्र खरा दिखायी देता है। जो मनुष्य है, उनकी मनुष्यता कुचली जाती है, जो मनुष्यता का निर्णय करते हैं, उनमें मनुष्यता का अभाव है। इस विषमता का परिणाम है कि रजुआ 'बरई' से 'भिखारी' बन जाता है। उसे 'चोर' बना पाना इस विषमता के भी वश में नहीं है। दूसरी तरफ शिवनाथ बाबू अपनी झोंप मिटाते हुए लेखक से कहते हैं, 'चमार-सियार तो डांट-डपट पाते ही रहते हैं!... चलिए साहब, नीच और नीबू को दबाने से ही रस निकलता है।' यह सामाजिक विषमता से पैदा होने वाला दर्शन है।

रजुआ की गरीबी के साथ उसकी जाति को छोटापन भी है। उसे अपनी जाति की नैतिकता पर विश्वास है। इसलिए मार खाते समय वह बार-बार दोहराता है कि मैं चोर नहीं हूँ, बरई हूँ। लेकिन तथाकथित ऊँची जाति के भद्रजन उसका विश्वास नहीं करते। सच्चाई पता चल जाने पर भी उसे खुलकर स्वीकार नहीं करते! नाक (प्रतिष्ठा) का प्रश्न नैतिकता से ऊपर है! रजुआ अपनी गरीबी और अपनी छोटी जाति के कारण ऐसी प्रतिष्ठा का शिकार नहीं है। उसका संबंध एक तरफ इन भद्रजनों में है, दूसरी तरफ उसका एक और संसार है। वह छोटी जाति की औरतों को भौजाई बनाता है; निचले तबके के लोगों में 'रज्जू भगत' कहा जाता है; 'बड़े लोगों में भी कोई-कोई हंसी मजाक में उसको इसी नाम से संबोधित करता, लेकिन उनके कहने पर वह शरमाकर हंसते हुए चला जाता पर, छोटी जातियों के समाज में वह कुछ-न-कुछ ऐसी कह गुजरता जो सबसे अलग होती।' यही नहीं बरन की बहू को उसकी धोखाधड़ी की सजा दिलाने के लिए वह 'शनीचरी देवी' का भगत बन गया था; ये शनीचरी देवी एक प्रचंड डोमिनी थीं, जिन्हें एक डोम ने लाठी से मार डाला था, पर हफ्ते-दस दिन में वह भी चेचक से मर गया था। इसे लोगों ने "शनीचरी देवी" का प्रकोप समझा और इसी कारण 'तब से वह छोटी जातियों में शनीचरी माता या शनीचरीदेवी के नाम से प्रसिद्ध हो गयी थी।'

रजुआ की छोटी जाति, छोटी जातियों के साथ उसका हमजोलीपन, छोटी जातियों के अपने विश्वास और देवी-देवता, 'छोटी जातियों' की पूरी सांस्कृतिक झांकी इस कहानी में समानांतर पिरोई हुई है। इस समाज में बड़े-छोटे का भेद-भाव मिटने की बात दूर है, वह पूरी मजबूती से जमा हुआ है और वह आर्थिक स्तर पर भी है, मानवीय-सामाजिक स्तर पर भी। पूंजीवाद के साथ पिछले जमाने के अन्याय और उत्पीड़न खत्म नहीं हुए हैं, नये जरूर जुड़ गये हैं। पूंजीवाद पिछड़े सामाजिक रूपों को बचाये हुए हैं, इसलिए पिछड़ी चेतना और मानसिक संचरना भी बनी हुई है। इस मानसिक-सांस्कृतिक पिछड़ेपन का इस्तेमाल करके पूंजीवाद सामाजिक भेद-भाव ओर विषमता को दृढ़ करता है। यथार्थ के इतने स्तरों और पेंचों को अमरकांत ने जिस खूबी से उभारा है, वह उनके रचना-कौशल की बहुत बड़ी उपलब्धि है। मध्यवर्गीय वातावरण और उसमें रजुआ; रजुआ के साथ गाँव के उजाड़ से लेकर शहर के निचले स्तरों तक का पूरा जीवन-दृश्य यह भरा-पूरा चित्रण अमरकांत ने एक मुख्य समस्या और मुख्य चरित्र के इर्द-गिर्द पिरो दिया है। उनकी कहानी का शिल्प इस जीवन-दृश्य समस्या और चरित्र तीनों को सहज रूप में प्रस्तुत करने की कला से ही निर्मित हुआ है।

इकाई- 4

चीफ़ की दावत-भीष्म साहनी

-(स्व.) डॉ. शुभलक्ष्मी वत्स
मुक्त शिक्षा विद्यालय

भीष्म साहनी : कहानीकार के रूप में

अपने पहले कहानी संग्रह 'भाग्यरेखा' से नवीनतम कहानी "पाली" तक, भीष्म साहनी की कथा यात्रा अबाध गति से बढ़ती और परिपक्व होती गई है। उन्होंने अपने कथा परिवेश में अधिकतर शहरी मध्य वर्ग के उच्च और निम्न तबकों को पूरी विविधता के साथ अपनाया है। प्रेमचंद के बाद वे ही ऐसे दूसरे लेखक हैं जो कहानी को वास्तविक जगत से गृहण करते हैं। डॉ. नामवरसिंह का कहना है "सादगी और सहजता भीष्म जी की कहानी कला की ऐसी खूबियाँ हैं, जो प्रेमचंद के अलावा और कहीं नहीं दिखाई देती है। जीवन की विडंबनापूर्ण स्थितियों की पहचान भी भीष्म साहनी में अप्रतिम है। यह विडंबना उनकी अनेक अच्छी कहानियों की जान है।" वस्तुतः भीष्म जी उन कहानीकारों में हैं जिन्होंने कथा-साहित्य की जड़ता को तोड़ा नहीं बल्कि, उसे ठोस सामाजिक आधार देकर एक महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया है। सामाजिक विंसंगतियों, संकीर्णताओं आदि से निराशा पलायनवादी रुख के स्थान पर, उन कारणों को सामने लाना जरूरी समझा जो इन सबकी जड़ में है। "स्वाधीनता आंदोलन, स्वतंत्रता को प्राप्ति, साम्प्रदायिक दंगे, विदेशी आक्रमण, पूँजीवादी शिकंजा, गड़बड़ाते जीवन-मूल्य, वर्ग-घृणा का फैलाव, अफसरशाही, दोगली राजनीति, सस्ती नेतागिरी हमारे इतिहास के हिस्से हैं। इन तमाम त्रासदियों के अंतः-सूत्रों की पहचान सही लेखन के लिए जरूरी है शर्त है और भीष्म साहनी का लेखन इसे पूरा करता है।" (सारिका, भीष्म साहनी: व्यक्ति और रचना)

भीष्म साहनी पर मार्क्सवाद का प्रभाव भी पड़ा है। "उन्होंने इसे पूरी तरह आत्मसात् किया है। आंदोलन ने जहाँ भीष्म जी के विचारों को पुष्ट किया है, वहीं जीवन के अधिक निकट जाने को बाध्य भी किया है।" (विवेक द्विवेदी-भीष्म साहनी : उपन्यास साहित्य) उन्होंने अपना कथा परिवेश ज्यादातर शहरी मध्यवर्ग के जीवन को ही बनाया है। उनकी कहानियाँ प्रायः आम जनजीवन से जुड़ी हुई हैं और संभवतः इसीलिए वे अच्छी कहानियाँ दे सकने में सफल भी हुए हैं। उनकी कहानियों के चरित्र स्वाभाविक गति से आगे बढ़ते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने अपने विचार इस रूप में व्यक्त किए हैं-"कहानी लिखते समय हम स्थितियों-घटनाओं की तो वास्तविक जीवन में से अक्सर उठाते हैं, साथ ही साथ पात्रों को भी उठाते हैं।... घटना उस सक्रिय पात्र के साथ जुड़कर ही हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। पात्र काल्पनिक अथवा अमूर्त नहीं होती। जो विसंगति किसी स्थिति विशेष में पाई जाती है, वैसी ही कोई विसंगति उस पात्र में भी पाई जा सकती है, जो उसमें सक्रिय है। इस तरह पात्र की ओर ध्यान अधिक जाता है।" जीवन के संघर्षों, तनावों और भयाकुल स्थितियों को उन्होंने एक सचेत संतुलन, मानसिकता के साथ प्रस्तुत किया है। डॉ. नामवर सिंह का कहना है-"उनके सौम्य, शालीन, सहज और विनम्र व्यक्तित्व के साथ विचारों की दृढ़ प्रतिबद्धता इतना घुलमिल गई है कि कभी उसके बारे में भ्रम भी होता है। बिना आक्रामक हुए भी कोई लेखक प्रतिबद्ध हो सकता है। इसकी सर्वोत्तम मिसाल भीष्म साहनी हैं।" भीष्म साहनी अपने व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों में सादगी पसंद है, और संभवतः इसीलिए वे युवा और बुजुर्ग दोनों में ही अत्यंत लोकप्रिय हैं।

चीफ की दावत

कथासार

शामनाथ एक दफ्तर में काम करते हैं। अपनी तरक्की के लिए चीफ को प्रसन्न करने के उद्देश्य से वे उन्हें अपने घर दावत पर आमंत्रित करते हैं। उनके चीफ एक अमेरिकन व्यक्ति हैं अतः उन्हें प्रसन्न करने के लिए घर का पूरा वातावरण उसी रूप में प्रस्तुत करने के लिए शामनाथ और उनकी पत्नी निरन्तर लगे हुए हैं। कहाँ, कब, कैसे क्या रखना, लगाना, सजाना है। इसी तैयारी में पूरा समय व्यतीत हो रहा था कि अचानक माँ का ध्यान आते ही दोनों पात्र बेचैन हो उठते हैं। माँ बूढ़ी हों गयी है अतः चीफ के सम्मुख उनका 'पड़ना' किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। कभी कोठरी में, कभी बरामदे में तो कभी उनकी सहेली के पास भेजे जाने के प्रस्ताव एक-एक करके नकारे जाते हैं। अंततः निश्चय किया जाता है कि माँ बेटे की पसन्द के कपड़े पहनकर, जल्द ही खाना खाकर अपनी कोठरी में चली जायें और साथ ही ध्यान रखें कि वे सोयें नहीं, क्योंकि उनकी खर्राटे लेने की आदत है।

डरी, सहमी-सी माँ बेटे की हर बात को सिर झुकाकर स्वीकार करती है। वह गाँव में रहने वाली एक अनपढ़ औरत है जो प्रत्येक स्थिति में बेटे का भला चाहती है। शर्मिली, लजीली, धार्मिक विचारों वाली माँ को कुर्सी पर ढंग से बैठने का तरीका भी सिखाया जाता है, क्योंकि अगर कहीं गलती से साहब का माँ से सामना हो जाय तो शामनाथ को शर्मिन्दा न होना पड़े।

साहब और उनके सभी साथी लगभग आठ बजे तक पहुँच गए। विहस्की का दौर चलने लगता। दफ्तर में रौब रखने वाले साहब यहाँ पूरी तरह से मुक्त व्यवहार कर रहे थे। पीना-पिलाना समाप्त होने पर सभी खाना खाने के लिए बैठक से बाहर जा रहे थे कि अचानक सामने कुर्सी पर बैठी, सोती हुई माँ सामने पड़ गई। माँ पर बेटे को बहुत क्रोध आया, पर मेहमानों के सामने कुछ भी नहीं कह पा रहे थे। शामनाथ साहब के लिए परेशान थे पर साहब तो अलग ही प्रकृति के व्यक्ति निकले। उन्होंने माँ से हाथ मिलाया, गाना सुना। विदेशी साहब के इस उन्मुक्त व्यवहार के कारण देसी साहब भी माँ को उसी दृष्टि से देखने लगे। पर माँ लज्जा के कारण अपने में सिमटती जा रही थी। साहब के कहने पर उन्होंने एक पुरानी फुलकारी भी लाकर दिखाई। माँ के इस कार्य से प्रसन्न साहब चाहते हैं कि माँ उनके लिए एक नई फुलकारी बनाकर दें। हिचकिचाते हुए माँ उनके इस अनुरोध को स्वीकार करती हैं। बेटे की तरक्की का प्रश्न है इसलिए आँखों की रोशनी कम होने पर भी इसके लिए प्रत्यनशील होने का वायदा करती हैं। वे तो सब कुछ छोड़कर हरिद्वार जाना चाहत थीं पर, इस परिस्थिति में उन्हें अपना इरादा बदलना पड़ा। इसके बाद शामनाथ निश्चिन्त होकर पत्नी-के साथ अपने कमरे में चले गए और माँ भी चुपचाप अपनी कोठरी में लौट गई।

कथानक : समीक्षा

चीफ की दावत कहानी का कथानक सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित है। इसका कथानक अत्यंत संक्षिप्त है। बेटे के साहब घर में डिनर पर आने वाले हैं। घर की व्यवस्था करते हुए अचानक 'बेकार'-सी पड़ी हुई माँ की व्यवस्था में दोनों पति-पत्नी चिंतित हैं। माँ 'चीफ' के सामने न पड़ें-इसकी पूरी-पूरी व्यवस्था करने के बाद भी वह अचानक दृष्टि में आ जाती है। अचानक परिस्थिति बदल जाती है। 'व्यर्थ-सी' माँ काम की वस्तु बन जाती है और साहब की प्रसन्नता का कारण भी। लेखक ने इस कथा-सार-की प्रस्तुति अत्यंत आकर्षक ढंग से की है। कहानी का प्रारंभ जिज्ञासावर्द्धक है-

“आज मिस्टर शामनाथ के घर चीफ की दावत थी। शामनाथ और उनकी धर्मपत्नी को पसीना पोंछने की फुर्सत न थी। आखिर पाँच बजते-बजते तैयारी मुकम्मल होने लगी। अब घर का फालतू सामान अलमारियों के पीछे और पलंगों के नीचे छिपाया जाने लगा। तभी शामनाथ के सामने सहसा एक अड़चन खड़ी हो गई, उसका क्या होगा?

कथानक की दृष्टि से यह कहानी प्रेमचंद परंपरा का ही विकास है। उनकी बाद की कहानियों में क्रमशः कथा का हास होता चला गया है। कहानी प्रायः अनुभूति का अभिव्यक्तिकरण बन गई। चीफ की दावत में भी घटना छोटी-सी है। गहराई से देखने से यह स्पष्ट होता है कि घटना का विकास क्रम अत्यंत स्वाभाविक है। चीफ का माँ को देखना 'लज्जा' का नहीं 'गौरव' का विषय बन गया, और यही से घटना ने अप्रत्याशित मोड़ लिया। पर कहानी अभी और भी है। दावत के बाद शामनाथ का माँ के पास आना-कथानक की दूसरी विशेषता है। पहली विडंबना है-माँ का "फालतू सामान" होना। दूसरी है-पुत्र की दावत से भी अधिक महत्वपूर्ण होना! ओर तीसरी है-पुत्र की उन्नति के लिए हरिद्वार जाने की इच्छा की बलि देकर फुलकारी बनाने के लिए तैयार होना। जो माँ आत्मग्लानिवश अपने कमरे में फूट-फूटकर रोती है, वही पुत्र की तरक्की की बात सुनकर खिल उठती है- 'माँ के चेहरे का रंग बदलने लगा, धीरे-धीरे उनका झुर्रियों भरा मुँह खिलने लगा, आँखों में हल्की-हल्की चमक आने लगी"

अब माँ को कैसे 'छिपाया' या 'हटाया' जाए-दोनों पति-पत्नी इस के लिए अनेक उपाय सोचते हैं। यही घटना-क्रम के विकास की प्रक्रिया है। कभी उन्हें उनकी 'सहेली' के यहाँ छोड़ने का विचार बनता है तो कभी शाम से ही उन्हें उनकी 'कोठरी' में रहने का सुझाव दिया जाता है। कहानी की 'चरम सीमा' उस स्थल पर है जहाँ माँ अचानक साहब के सामने पड़ जाती है। जिस बात से शामनाथ प्रारंभ से ही डर रहे थे वही अचानक सबके सामने आ जाती है। कुर्सी की सीट पर पाँव रखे, इधर-ऊधर झूलते सिर और मुँह से निरन्तर निकलते हुए खर्राटे-विकट परिस्थिति है। अब क्या होगा? तब इसी विकटता में से सरलता झाँकती है और साहब माँ के साथ हाथ मिलाते हैं, बात करते हैं, माँ की हर मुद्रा उनके लिए आकर्षक है। और फिर फुलकारी, यह तो साहब को बनाकर देनी ही होगी। 'व्यर्थ-सी' माँ अचानक महत्वपूर्ण हो जाती है। अंत में बेटा माँ को उसकी ममता की दुहाई देकर, उसे वहीं रहने ओर साहब के लिए फुलकारी बनाकर देने के लिए विवश करता है। यहीं कहानी का अंत है।

यहाँ अधिक घटनाएँ नहीं हैं। दावत की तैयारी, साहब तथा अन्य सहकर्मियों का आना, हँसी मजाक, अचानक माँ का सामने पड़ना साहब तथा अन्य लोगों का माँ में रुचि लेना और अंत में तरक्की का कारण दावत नहीं बल्कि माँ का होना और निश्चित शामनाथ का माँ को कोठरी में भेजकर स्वयं भी सोने चले जाना। सभी घटनाएँ पूर्वापर संबंधित हैं। सभी में एक कार्य-कारण संबंध है।

कथानक में सर्वत्र मौलिकता, रोचकता और स्वाभाविकता विद्यमान है। घटनाक्रम सहज ढंग से आगे बढ़ता है। माँ के सामने पड़ने से कहानी में आया मोड़ कहानी के आकर्षण को तो बढ़ाता ही है, समसामयिक संबंधों की सहज व्याख्या भी प्रस्तुत करता है। लेखक ने कथानक में व्यर्थ के प्रसंग लाने का प्रयास नहीं किया है। कथानक के विकास में विश्व की स्पष्टता और घटनाओं की प्रधानता है। यथार्थ की पृष्ठभूमि पर चित्रित यह कथानक सामाजिक संवेदना से ओत-प्रोत है।

पात्र और चरित्र चित्रण

भीष्म साहनी की कहानियाँ प्रायः मध्यवर्गीय पात्रों को लिए हुए हैं। प्रस्तुत कहानी के प्रमुख पात्र भी इसी वर्ग से संबंधित हैं। शामनाथ उनकी पत्नी तथा उनकी माँ। शामनाथ एक ऐसा पात्र है जो सामाजिक तथा आर्थिक विडंबनाओं से जूझ रहा है। वह स्वयं को आर्थिक दृष्टि से सुव्यवस्थित करने के लिए कुछ भी कर सकता है। चीफ को दावत पर बुलाना उसे उत्कृष्ट कोटि का भोजन खिलाकर, प्रमोशन के लिए अवसर पाने की इच्छा उसके चरित्र के लालचीपन की ओर संकेत करती है। अपनी इस लौकिक उन्नति की इच्छा की पूर्ति के लिए वह हर बाधा को किसी भी कीमत पर दूर करने के लिए तैयार है। घर के 'फालतू सामान' सी माँ को कैसे दृष्टि से ओझल किया जाए-इसकी हर संभावना उसके मन में कौंधती है। सहेली के घर भेजा जाय, दरवाजा बंद करके उस पर ताला

लगा दिया जाय या फिर कुछ और किया जाय-यह प्रश्न निरन्तर उसे उद्देलित करता है। अंततः निर्णय लेता है-“हम लोग पहले बैठक में बैठेंगे। उतनी देर तुम यहाँ बरामदे में बैठना। फिर हम जब यहाँ आ जाएँ, तो तुम गुसलखाने के रास्ते बैठक में चली जाना।”

पर जब यही माँ चीफ के आकर्षण-का कारण बन जाती है, तो वह उसे गाना गाने और फुलकारी बनाकर देने के लिए विवश करता है। दृष्टि कमजोर होने पर भी वह माँ की ओर से ‘साहब’ से वायदा करता है-“वह जरूर बना देंगी। आप उसे देखकर खुश होंगे।” इस रूप में शामनाथ आज के समय के उस वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है जो अपने स्वार्थ में पूरी तरह अंधा हो चुका है।

शामनाथ की पत्नी के चरित्र-चित्रण में लेखक ने अधिक रुचि नहीं दिखाई है। वह एक सहायक पात्र के रूप में चित्रित है। घर की सजावट में पति की सहायता करना, आमंत्रित मेहमानों की देखभाल करना ही मानो उसका कर्तव्य है। वह किसी भी रूप में माँ-बेटे के-बीच में नहीं आती। पति के प्रत्येक कार्य में मानों उसकी सदैव ही मूक स्वीकृति है।

प्रस्तुत कहानी का केन्द्रीय पात्र माँ है। वह एक लज्जाशील और अनपढ़; गाँव की सीधी-सादी, भोली-भाली एक ऐसी स्त्री है, जो सदैव कर्तव्यों के प्रति सजग रही है। अपने अधिकारों को जिसने कभी जानने की भी चेष्टा नहीं की है। वह ममता की साक्षात् मूर्ति है। जीवन-भर उसने सदैव अपने बेटे शामनाथ के ही बारे में सोचा और उसके लिए अपना हर पल समर्पित किया है। बेटे की पढ़ाई के लिए उसने अपने गहनों को भी बचे दिया था। पर, उसके इस-त्याग के बदले-में मिली एक कोठरी, जिसमें उसे ज्यादा से ज्यादा समय बिताना पड़ता है। वह दिन-रात उस कोठरी में बैठी माला जपती है, और कभी दिल भर आता है तो आँसू बहा लेती है। जीवन में अच्छा खाने, पहनने की इच्छा किसे नहीं होती। माँ की ये सभी इच्छाएँ बेटे के सुख के मार्ग में शहीद हो गईं। “मेरी जीभ जल जाय, बेटा तुमसे जेबर लूँगी? मेरे मुँह से यूँ ही निकल गया। जो होते तो लाख बार पहनती।” यह संवाद माँ के मन की कसक, उसकी अतृप्त आकांक्षाओं का प्रतीक है। वह त्याग की एक ऐसी मूर्ति है जो मौन रहकर सब कुछ सह रही है।

शामनाथ की यही माँ आज उसके लिए अड़चन है। उसे भय होता है कि माँ के कारण कही पार्टी का मजा किरकिरा न हो जाय। इसीलिए उसके मुँह से निकलता है-“यह माँ का झमेला ही रहेगा।” अपने प्रति बेटे के इस प्रकार के व्यवहार से माँ अनजान नहीं है। यह तो उसे प्रायः सुनना और सहना पड़ता है। मन ही मन वह भले ही स्वयं को अपमानित अनुभव करें, पर सामने वह कुछ नहीं कहती। उसने इसे ही अपना भाग्य मानकर इसके आगे सिर झुका दिया है। एक ‘आज्ञाकारी माँ, की भाँति वह बेटे के कहने से कपड़े बदलकर आती हैं। कुर्सी पर बैठने के ढंग को सीखने का प्रयास करती है। यहाँ तक कि उसने यह भी कहा जाता है कि जल्दी न सोये, क्योंकि सोते हुए माँ को खराटे लेने की आदत है। उसे यह भी हिदायत दी जाती है कि अगर कहीं साहब उनके पास आ निकलें, तो बात का ढंग से उत्तर देने की कोशिश करें।

साहब के आने पर इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है कि माँ सामने न पड़े, पर संयोगवश साहब का माँ से सामना हो जाता है। शामनाथ के क्रोध को देखकर लाचार और बूढ़ी माँ और भी डर जाती है। सफेद कपड़ों में लिपटा माँ का छोटा-सा सूखा हुआ शरीर, धुंधली आँखें लिए-बेटे की हिदायतों पर मूक स्वीकृति दिए जीवन के बचे हुए दिन जैसे तैसे ‘काट’ रहा है। पर ‘साहब’ का सामना होते ही परिस्थितियाँ एक नया मोड़ ले लेती हैं। साहब की फुलकारी में रुचि देखकर शामनाथ को माँ पर “गर्व” होता है। वह बिना पूछे ही माँ की ओर से साहब से वायदा

भी कर लेता है। 'बेकार चीज' मूल्यवान वस्तु बन जाती है—“ओ अम्मी! तुमने तो आज रंग ला दिया। साहब तुमसे इतना खुश हुआ कि क्या कहूँ” पर माँ अभी तक इस बदले हुए रंग के मूल को पहचान नहीं पाई थीं। इसलिए वह यहाँ सबसे दूर, अलग हरिद्वार जाने की बात करती है तो शामनाथ फिर से भड़क जाता है—“तुम मुझे धोखा दे के यूँ चली जाओगी। मेरा बनता काम बिगाड़ोगी?” भला-माँ ऐसा कब चाहती थी। उसके कारण बेटे की तरक्की हो, तो उसका तो जीवन सफल हो जाएगा। अतः वह कहती है—“तो मैं बना दूँगी, बेटा, जैसा बन पड़ेगा, बना दूँगी।

ममता के रंग को बेटा खूब पहचानता है। वह जानता है कि अब माँ जैसे तैसे उसका कार्य अवश्य करेंगी। इस रूप में जहाँ माँ की पवित्र ममता की झलक है, वहाँ आज के इस स्वार्थी वर्ग का अमानवीय सीमित दृष्टिकोण भी दिखाई देता है।

अन्य पात्रों में साहब का चरित्र भी आकर्षक बन पड़ा है। वह एक विदेशी पात्र-है लेकिन आदर्श व्यवहार उसके चरित्र का महत्वपूर्ण अंग है। वह जब इस बूढ़ी स्त्री के दयनीय रूप को देखता है तो अन्य आगन्तुकों की भाँति उसकी हँसी नहीं उड़ाता है बल्कि उससे हाथ मिलाने के लिए अपना हाथ आगे करता है। माँ बायाँ हाथ आगे करती है तो वह मुक्त हृदय से हाथ मिलाकर उनका स्वागत करता है उसका गाँव के लोग, ग्रामीण गीत और नृत्य को पसन्द करना निश्चय ही प्रशंसनीय है। वह उन विदेशी लोगों का प्रतिनिधित्व करता है जो भारत की संस्कृति से अत्यंत प्रभावित हैं और प्रत्येक स्थिति में उसे स्वीकारने के लिए उन्मुक्त हैं। साहब के अनुरोध पर बूढ़ी माँ जैसे तैसे गीत की दो-तीन पंक्तियाँ ही सुना पाती हैं, साहब इसी से अत्यधिक प्रसन्न होकर तालियाँ बजाते हैं और इसी कारण शामनाथ की खीज प्रसन्नता और गर्व में परिवर्तित हो जाती है। गाँव की दस्तकारी के बारे में वे जानते हैं और माँ से फुलकारी बना देने का आग्रह करते हैं। माँ के द्वारा बनाई गई पुरानी, फटी, जगह-जगह से धागे निकली फुलकारी देखकर वे अत्यंत प्रसन्न होते हैं। साहब के चरित्र के इस थोड़े से अंश से साहब की उदारता और उनकी मानवीय भावना का स्पष्ट संकेत मिलता है जिसका शामनाथ जैसे पात्रों में नितान्त अभाव है।

संवाद योजना

कहानी में आए संवाद एक और पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के द्योतक होते हैं तथा दूसरी ओर कथावस्तु के विकास में भी सहायक होते हैं। प्रस्तुत कहानी के संवाद कहानी की इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। संक्षिप्तता, गतिशीलता, स्वाभाविकता तथा व्यंग्यात्मकता संवाद-योजना का प्रमुख विशेषताएँ हैं-

“माँ हाथ मिलाओ”

....यूँ नहीं, माँ ! तुम तो जानती हो, दायाँ हाथ मिलाया जाता है । दायाँ हाथ मिलाओ”

मगर तब तक चीफ माँ का बायाँ हाथ ही बार-बार हिलाकर कह रहे थे,

“हाउ डू यू डू ?”

“कहाँ माँ, मैं ठीक हूँ, खैरियत से हूँ।”

माँ कुछ बड़बड़ाई।

“माँ कहती हैं, मैं ठीक हूँ। कहो मा, हाउ डू यू डू।”

माँ धीरे से सकुचाते हुए बोली -“हो डू डू...”

इस रूप में संवादों में गतिशीलता और सरलता है, इसीलिए संवाद सर्वत्र स्वाभाविक हैं। एक छोटे से प्रसंग में लेखक तीनों पात्रों के चरित्र की प्रायः सभी विशेषताओं को उभारने में सफल हुआ है।

प्रस्तुत कहानी के संवादों में नाटकीयता का गुण भी विद्यमान है। पात्रों के वार्तालाप में उतार चढ़ाव वैसा ही दृष्टिगोचर होता है जैसे कि नाटकों के संवादों में प्रायः पाया जाता है। इसका एक कारण यह भी है कि उसमें उत्तर-प्रयुक्त की विशेषता अधिक विद्यमान होती है—

“माँ साहब कहते हैं, कोई गाना सुनाओं । कोई पुराना गीत तुम्हे तो कितने ही याद होंगे।

माँ धीरे से बोली, “मैं क्या गाऊंगी बेटा मैं कब गाया है?”

“वाह माँ! मेहमान का कहा भी कोई टालता है ?”

“साहब ने इतनी रीझ से कहा है, नहीं गाओगी, तो साहब बुरा मानेंगे?”

“मैं क्या गाऊँ, बेटा! मुझे क्या आता है ?”

इस प्रकार प्रस्तुत कहानी के संवाद सजीव और सारगर्भित हैं साथ ही माँ की मानसिक हलचल उनके संवादों के माध्यम से हुई है। मनोविज्ञान का सहारा लेकर लिखे गए इन संवादों में सर्वत्र ही पात्रानुकूलता है।

वातावरण

कहानी का आधार काल्पनिक होता है, लेकिन उसमें वातावरण की सजीवता उसे यथार्थ रूप प्रदान करती है। आज की कहानी में वातावरण का प्रायः संक्षिप्त और सांकेतिक रूप ही गृहण किया जाता है। कहानी के प्रारंभ में लेखक ने देशगत उपकरणों का चित्रण करते हुए, कमरे का सजीव चित्रण किया है—“ आखिर पाँच बजते-बजते तैयारी मुकम्मल होने लगी। कुर्सियाँ, मेज, तिपाइयाँ, नैपकिन, फूल-सब बरामदे में पहुँच गए। ड्रिंक का इन्तजाम बैठक में कर दिया गया। अब घर का फालतू सामान अलमारियों के पीछे और पंलगों के नीचे छिपाया जाने लगा। इसी प्रकार जब सभी मेहमान शामनाथ के घर पर पहुँच गए तो पार्टी का जो रंग जमा, उसे भी लेखक ने अत्यंत सजीव ढंग से प्रस्तुत किया है। इसी चित्रण में साहब, मेमसाहब तथा अन्य दोस्तों का व्यवहार तथा पहनावा आदि सभी का अत्यंत सूक्ष्म तथा यथार्थ विवरण प्रस्तुत किया गया है—“दफ्तर में साहब जितना रौब रखते थे, यहाँ पर उतना ही दोस्त-परवर हो रहे थे और उनकी स्त्री गाउन पहने, गले में सफेद मोतियों का हार, सेंट ओर पाउडर की महक से ओत-प्रोत, कमरे में बैठी सभी देसी स्त्रियों की आराधना का केंद्र बनी हुई थी। बात-बात पर हँसती, बात-बात पर सिर हिलाती और शामनाथ की स्त्री से तो ऐसे बात कर रही थीं, जैसे उनकी पुरानी सहेली हों।”

वातावरण में मार्मिकता ‘उस स्थल पर चित्रित हुई है। जहाँ माँ कुर्सी पर बैठे-बैठे सो गई थीं। कुर्सी पर रखे उनके पाँव नींद के झोंके में इधर-उधर झूलता सिर और मुँह से निकलते हुए खर्कटे-एक भिन्न लेकिन सजीव चित्रण प्रस्तुत करते हैं। माँ के इस रूप को देखकर शामनाथ के मन में क्रोध उमड़ पड़ा लेकिन उसे प्रकट न कर पाने की विवशता का चित्रण भी अत्यंत स्वाभाविक है।

प्रस्तुत कहानी में बाह्य चित्रण के साथ-साथ मानसिक चित्रण भी है जो कहानी के मूलभाव के चित्रण सहायक बना है। बेटे ने पार्टी के समय प्रस्तुत होने वाली सभी संभावित स्थितियों से माँ को अवगत करा दिया था, पर फिर भी माँ का मन रह-रहकर काँप उठता था—“अगर चीफ सामने आ गया और उसने कुछ पूछा तो वह क्या जवाब

देंगी।” इसका प्रमुख कारण चीफ का अंग्रेज होना है। “माँ तो अंग्रेज को दूर से ही देखकर घबरा उठती थीं, वह तो अमरीकी है। न मालूम क्या पूछे। में क्या कहूँगी ?” इस स्थिति से बचने के लिए अपनी सहेली के पास जाना चाहती थी। पर बेटे ने उन्हें पहले ही वहाँ जाने से मना कर दिया था। इसी प्रकार चीफ को अचानक सामने पाकर माँ की हड़बडाहट का चित्रण भी अत्यंत सजीव, साथ ही मार्मिक भी है।

इस प्रकार भीष्म साहनी ने कहानी को यथार्थ रूप देने के लिए स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक वातवरण की सृष्टि की है।

भाषा-शैली

‘चीफ की दावत’ कहानी में भाषा सहज, सरल ओर अद्वितीय गहनता लिए हुए है। शब्दों में व्यावहारिकता और भावुकता तो है ही, साथ ही लाक्षणिकता से भी सुसज्जित है। लेखक ने प्रायः बोलचाल में प्रयुक्त होने वाले उन अंग्रेजी तथा पंजाबी भाषा आदि के उन सभी शब्दों को यथोचित रूप में अपनाया है, जो प्रायः मध्यवर्गीय हिंदी भाषा जनता में प्रचलित है। इतना अवश्य है कि लेखक ने उन शब्दों का अर्थ भी प्रस्तुत करके पाठक को सहज होने में सहायता की है। मुकम्मल, ड्रिंक, अडचन, अवाक्, साक्षात, रौ, रौब आदि शब्द कहानी के उतार-चढ़ाव व सार्थकता प्रदान करते हैं।

सरल, सुबोध और स्वाभाविक वाक्य कहानी को प्रेषनीयता में सहायक सिद्ध हुए हैं। जैसे—“माँ ने झिझकते हुए अपने में सिमटते हुए दोनों हाथ जोड़े, मगर एक हाथ दुपट्टे के अंदर माला को पकड़े हुए था, दूसरा बाहर, ठीक तरह से नमस्ते भी न कर पाई। शामनाथ इस पर भी खिन्न हो उठे। ‘हरिया की माये’-गीत में प्रान्तीय प्रभाव कहानी को प्रभावोत्पादक बनाता है। ‘फुलकारी’ के प्रसंग से कहानी में जहाँ एक नया मोड आता है वहीं कहानी प्रांत-विशेष के वातावरण से ओत-प्रोत हो उठी है।

निश्चय ही प्रस्तुत कहानी की भाषा-शैली में रेखाचित्र सी छटा और सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं को व्यक्त करने की अपूर्व सामर्थ्य है। इससे कहानी सरसता और कलात्मकता का भी समावेश हुआ है।

उद्देश्य

बदलते हुए मानवीय मूल्यों के संदर्भ में ‘चीफ की दावत’ कहानी अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। वस्तुतः आज का मानव खंडित जीवन जी रहा है। उसकी विडंबना यह है कि वह न किसी का बन सकता है और न ही किसी को अपना बना सकता है। वस्तु स्थिति यह है कि पारिवारिक विघटन के कारण मूल्यों का निरन्तर विघटन होता जा रहा है। और त्रासद स्थिति यह है कि नए मूल्य उनका स्थान नहीं ले पा रहे हैं। ऐसी स्थिति में भीष्म साहनी का रचना संसार एक गहरे दायित्व-बोध को स्वीकार करता है। उनका कहानियों की मूल प्रवृत्ति के संबंध में एक स्थल पर कहा गया है —“भीष्म साहनी के यहाँ यह एक आश्चर्यजनक स्थिति है कि लम्बे प्रवास के बावजूद उनके यहाँ विदेशी पृष्ठभूमि की कहानियाँ नहीं के बराबर हैं। दरअसल उनके यहाँ इतनी बड़ी संख्या में बूढ़े पात्रों की उपस्थिति और विदेशी पृष्ठभूमि के प्रति काफी कुछ उदासीन रवैया एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यह अपने देश और धरती के प्रति उनके गहरे लगाव का परिचायक है। अपने बूढ़े पात्रों द्वारा, जिनमें स्त्रियाँ अधिक हैं, वह अपनी धरती से जुड़े रहने की कोशिश तो करते हैं; उस लोक-तत्त्व की रक्षा में भी सफल होते हैं, जो अगली पीढ़ी को संस्कार देता है।” (मधुरेश: नई कहानी : पुनर्विचार) वस्तुतः भीष्म साहनी जीवन के प्रवाह को पकड़ने को कोशिश करते हैं। और भी कारण है कि उनकी कहानियाँ बने बनाए निष्कर्षों से मुक्त रहती हैं। ‘चीफ की दावत’ में उन्होंने मध्यवर्गीय जीवन के अन्तर्विरोध को अत्यन्त हृदयग्राही ढंग से उद्घाटित किया है। इसमें एक ओर नए-नए आधुनिक बने शामनाथ और उसकी पत्नी है, तथा दूसरी ओर है — ‘फालतू सामान’ की हैसियत में आ चुकी माँ।

अपने विभाग के चीफ को दावत पर बुलाए जाने का उद्देश्य है-अफसर को प्रसन्न करके पदोन्नति का प्रयास। शामनाथ सिगरेट पीते हुए माँ से बात करता है और उनके परम्परागत संस्कारों, तौर-तरीकों को जगहँसाई के भय से नियंत्रित करने का प्रयास करता है। माँ एक संस्कारशीला वृद्धा है, जिसने अपने सभी आभूषणों को बेटे की में शिक्षा-पूर्ति के लिए बेच दिया है; हालांकि इस समय उसका उल्लेख भी बेटे को अरुचिकर लगता है। अपने जीवन के एकाकीपन को दूर करने के लिए माँ पड़ोस में अपनी समवयस्क स्त्रियों के साथ समय बिताती थीं, लेकिन बहू बेटे की नापसन्दगी को देखकर उसने वह भी छोड़ दिया है। अब हर समय माला फेरकर वह अपने जीवन के बचे-खुचे दिन काट रही है। इतना ही नहीं, जिस दिन घर में माँसाहारी भोजन बनता है, उस दिन वह कुछ भी नहीं खाती, और न ही उसके लिए अलग से कोई व्यवस्था की जाती है।

संयोगवश जिस स्थिति से बचने की तैयारी प्रातः से ही चल रही थी, वही अचानक सामने आकर खड़ी हो जाती है। खाना खाने के लिए जाते हुए चीफ “की दृष्टि कुर्सी पर बेढंगे तरीके से बैठी माँ पर पड़ जाती है। यद्यपि साहब एक अंग्रेज व्यक्ति है, लेकिन वह माँ का पूरा आदर करता है और उनसे बातचीत भी करता है। वह माँ से केवल पुराने लोक-गीत सुनता है वरन् आग्रहपूर्वक पंजाबी कला-फुलकारी देखने का भी आग्रह करता है यह स्थिति शामनाथ के लिए सुखद है। वह माँ की ओर से साहब को फुलकारी बना देने का वायदा भी करता है। इस रूप में मूल्य-संक्रमण के इस दौर में यह कहानी अत्यंत संतुलित ढंग से परम्परा के रक्षणीय रूप की उपेक्षा और भर्त्सना से बचा लेती है। बेटे के भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए माँ हरिद्वार जाने का विचार त्याग देती है और इस प्रकार अपने जीवन की रोशनी-की अंतिम किरण भी उस पर समर्पित कर देती है। ‘टप्पा’ और ‘फुलकारी’ इस कहानी में परम्परा के वे सार्थक तत्व बन जाते हैं, जिनकी रक्षा का प्रश्न हमारे अस्तित्व से जुड़ा हुआ है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त देश में मध्यवर्ग के जिस यथार्थ को विकसित होने का अवसर मिला, उसमें जीवन की बाह्य तथा आंतरिक स्थिति अनेक विसंगतियों और अमानवीयता से भर उठी थी। प्रस्तुत कहानी का मूल भाव इसी विडम्बना को उद्घाटित करता है। अंति आधुनिक बनने के उत्साह में शामनाथ अपनी संस्कृति के मोह से स्वयं को भरसक दूर रखने का प्रयत्न करता है। लेकिन अंततः वही संस्कृति और लोक परम्परा ही उसकी पतवार बनते हैं और साहब ‘जिगर’ से नहीं, वरन् इसी कोमल भावना का स्पर्श पाकर गद्गद् हो उठते हैं। इस रूप में भीष्म साहनी ने मानवीय आस्था को भारतीय जीवन के संदर्भ में, अपनी धरती से जुड़ी एक सक्रिय स्फूर्ति के साथ प्रस्तुत किया है।

व्याख्या भाग

1. मगर कोठरी में बैठने की देर थी.....थमने में न आते थे।

संदर्भ : आधुनिक कहानीकारों में भीष्म साहनी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी कहानी ‘चीफ की दावत’ मध्यवर्गीय जीवन के एक मार्मिक पक्ष का अंकन करती है। प्रस्तुत पंक्तियों में बेटे के साहब से मिलने के बाद माँ की दबी घुटी भावनाओं के एकांत में फूट पड़ने का चित्रण है।

व्याख्या-शामनाथ के बार-बार हिदायत देने के बाद भी जब माँ को कुर्सी पर बैठे-बैठे-नींद आ गई, तभी साहब ऊधर आ निकले। पर साहब “ने अपने व्यवहार से न केवल स्थिति संभाली, बल्कि माँ को भूल गई अनेक बातें भी याद करा दीं। उन्होंने गाना सुना, फुलकारी की माँग की। इस सबके कारण स्थिति का तनाव समाप्त हो गया था। पर माँ इस परिवर्तित और शांत परिस्थिति से तालमेल नहीं बिठा पाई। अवसर देखकर वह अपनी कोठरी में जाकर बिलख उठी। वह चाहती थी कि आँसू अधिक न बहें, क्योंकि यह भी संभव था कि अचानक फिर से बेटा या अन्य कोई भी व्यक्ति उधर न आ निकले। आज एक लंबे समय के बाद माँ को महत्त्व मिला था। उसके

गायन को सराहा गया था। उसकी-सिलाई-कढ़ाई की एक विदेशी व्यक्ति ने सबके सामने प्रशंसा ही नहीं की थी वरन् उससे एक नई फुलकारी बना देने की इच्छा व्यक्त की थी। यह कोई साधारण बात नहीं थी। और साथ ही यह इच्छा बेटे के चीफ की थी, जिसे प्रसन्न करने के लिए वह प्रातः काल से लगा हुआ था। इस नई स्थिति में माँ कहीं कुछ असहज सी हो गई थी। अंतर में बैठी भावनाएँ आँसुओं के माध्यम से लगातार बह रही थीं। माँ ने बार-बार अपने को समझाने का प्रयत्न किया कि इस प्रकार रोना ठीक नहीं है। भगवान से भी प्रार्थना की कि उसे यह सब सहने की शक्ति दे। बेटे की लंबी आयु की कामना की, लेकिन आँसू तो बाँध तोड़कर बहे ही जा रहे थे। माँ का उन पर कोई नियन्त्रण न था। इस रूप में मानों माँ की अतृप्त आकांक्षाएँ बाहर आ रही थीं।

विशेष—प्रस्तुत प्रसंग कहानी का एक महत्त्वपूर्ण अंश है इसमें माँ का मनोवैज्ञानिक चित्रण है। वह एक ऐसी नारी है जिसने परिस्थितियों के सामने सिर झुका दिया था, पर अचानक पार्टी के समय चीफ के सम्मुख आ जाने से सब कुछ बदल गया। बेकार की चीज अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन गई। इन परिस्थिति में माँ का अत्यंत हृदयद्रावक चित्रण है। साथ ही बेकार, बूढ़ी माँ के चित्रण के माध्यम से बुजुर्ग पीढ़ी की दयनीयता भी स्पष्ट हाती है। कोमल भावनाओं के चित्रण में लेखक ने कोमलकांत वाक्यवली का प्रयोग किया है। चित्रात्मक शैली में माँ का चित्रण अत्यंत सजीव और हृदयद्रावक है।

तीसरी कमस (फणीश्वरनाथ 'रेणु')

—डॉ. शशि

युग-संदर्भ और कहानीकार का स्थान

स्वर्गीय फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने सन् 1945 के आसपास लिखना प्रारंभ किया पर उसकी पहचान सन् 1954 में 'मैला आँचल' उपन्यास के प्रकाशन के साथ हुई। सन् 1950 के आसपास नई कहानी ग्राम कथाओं की ओर उन्मुख हो रही थी। यहाँ तक कि कुछ कहानीकारों ने ग्राम-कथा को नयी कहानी की प्रमुख प्रवृत्ति मान लिया था। पहली बार सन् 1957 के नववर्ष विशेषांक में रेणु की कहानी 'लाल पान की बेगम' छपी और वे नये कहानीकारों की बिरादरी में आ बैठे। 'रेणु' की कहानियों में कथावस्तु का चयन सामान्य जीवन से किया गया है। उनके कहीं भी किसी प्रकार की असाधारणता नहीं है। यँ ग्रामांचल को आधार बनाकर एक कहानी लिखने वाले अन्य कहानीकार भी हैं, जैसे मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह आदि लेकिन इन दोनों की कहानियों में एक विचित्र प्रकार की 'नास्टेलपिया' मिलती है। वे गाँव की उन विशेषताओं की ओर उन्मुख हैं जो अब निःशेष हो गई हैं। इसके विपरीत 'रेणु' गाम्य जीवन की वर्तमानता से जुड़े हुए हैं। 'लाल पान की बेगम', 'मारे गए गुलफाम' आदि कहानियों में गाँव की उन 'आस्थाओं' को प्रस्तुत किया गया है। जो हमारी जीवन-आस्था को और भी प्राणवान बना देती है। डॉ. बच्चनसिंह के शब्दों में—'मारे गए गुलफाम' में नर्तकी के प्रति किस निश्चल आस्था का स्तर मुखर हुआ है। उससे केवल हीराबाई ही प्रभावित नहीं होती है बल्कि पाठकों पर भी गीत की अंतिम अनुगूँज का सा प्रभाव पड़ता है।

रेणु की कहानियों को जो प्रतिष्ठा एवं मान्यता प्राप्त हुआ उसके मूल में तत्कालीन साहित्यिक वातावरण के साथ-साथ कहानी में उसकी 'अपील' और 'कलात्मकता' भी थी। वास्तव में यह वह समय था जब केवल कविता, वरन् कहानी और उपन्यास में भी जहाँ एक ओर अनुभव की प्रामाणिकता की बात की जा रही थी तो दूसरी ओर भारतीय ग्राम-जीवन के प्रति गहरी उन्मुखता लक्षित हो रही थी। सच पूछिए तो ये आपस में ही कहीं जुड़े हुए पहलू हैं। यही कारण है कि कथा के क्षेत्र रेणु, मार्कण्डेय, लक्ष्मीनारायण लाल,, शिवप्रसाद सिंह शैलेश मटियानी, रामदरश मिश्र आदि के जीवन की चेतना को पहचाना और अभिव्यक्ति दी।

'रेणु' की अधिकांश कहानियों का कथांचल उत्तरी बिहार के पूर्णिया जिले के कुछ गाँव है, जहाँ धीरे-धीरे गाँव की सीमाएँ समेटता शहर प्रवेश कर रहा है। उन्होंने अपनी कहानियों में किन समस्याओं और स्थितियों को उभारा है वे किसी एक गाँव, किसी एक जिले या एक प्रदेश की नहीं वरन् पूरे ग्रामीण परिवेश से जुड़ी हैं। जिला, ग्राम, जनपद जाति, टीले आदि के नामोल्लेख कहानी के संदर्भों को प्रामाणिकता प्रदान करते हैं। जिस 'अनुभव की प्रामाणिकता' और 'भागे हुए यथार्थ' को नये कहानीकारों ने नारों की रूप में अपनाया था, रेणु ने उन्हें कहानी के सन्दर्भों में प्रामाणित कर दिया। इसीलिए उनके कथामंच पर यदि कोई पात्र एक क्षण के लिए भी आता है तो वह अपनी समस्त सामाजिक पृष्ठभूमि को साथ लेकर आता है। उनकी कहानियों को हम जीवन के चित्र कह सकते हैं जिसमें बिहार की ग्रामभूमि का यौवन और संगीत मुखरित हो उठा है। 'सुमन' के शब्दों में कहें तो उनमें देश की मिट्टी बोल उठी है। इनकी कहानियों में लोकसंगीत के समान ही मधुर व्यक्तित्व पाठक के मान को छूते हैं, ये व्यक्ति अपने प्राण-रस से इस साहित्य को खींचकर जीवंत बनाते हैं। प्रेमचन्द के बाद अगर किसी साहित्य में "मिट्टी की सोंधी गंध" महकता है तो वे हैं 'रेणु'। एक बात में वे प्रेमचन्द की भी पीछे छोड़ गए हैं, और वह है—भारतीय गाँवों की अनेक समस्याओं, कुरूपताओं को सहज रूप में चित्रित करने के साथ-साथ ग्रामीण

जीवन के सुन्दर पक्ष को भी पकड़ लिया है, जिसे प्रेमचन्द अपनी व्यापक दृष्टि के बावजूद छोड़ गए थे। 'नई कहानी की मूल संवेदना' में डॉ. सुरेश सिन्हा ने लिखा है—ग्रामीणों की कुटिलता एवं विशेषताएँ, लोकगीत तथा लोकजीवन, परम्पराएँ, रूढ़ियों एवं परिवर्तनशीलता, नवोन्मेष की भावना, नया जीवन, पंचायतें नौटंकी, सड़कों की धूल, हवा, धूप रोशनी आदि तमाम सारी बातें 'रेणु' ने इतनी आत्मीयता से इनमें चित्रित की हैं कि वे स्वयं उनकी आत्मभोगी प्रतीत होती हैं। ग्राम्य-जीवन में जो नवीन मूल्य आ रहे हैं और प्रगतिशीलता के जो चिन्ह छिपे पड़े हैं, उन्हें उभारने का 'रेणु' ने विशेष रूप से प्रयत्न किया है।'

उनकी कहानियाँ प्रमुख रूप से चार वर्गों में समेटी जा सकती हैं—

1. जन संस्कृति (आँचलिक या जनपद) की कहानियाँ।
2. आम आदमी के सुख और पीड़ा की कहानियाँ।
3. राजनीतिक कहानियाँ।
4. फुटकर कहानियाँ।

इनमें से 'तीसरी कसम' प्रथम वर्ग की कहानी है। सन् 1959 में प्रकाशित 'ठुमरी' कहानी संग्रह में संग्रहीत यह कहानी साहित्य में विशेष चर्चित रही है। यह कहानी हिरामन नामक एक गाड़ीवान की है जो अपने जीवन में तीन कसमें खाता है। तीनों कसमें तीन छोटी-छोटी अन्तर्कथाएँ हैं। पहली बार कण्ट्रोल के जमाने से सीमेंट और कपड़ों की गांठे ले जाते हुए उसकी गाड़ी पकड़ी गई। गाड़ी में बैठे मुनीम के द्वारा द्वरोगा की बड़ी घूस दिए जाने पर भी जब दारोगा बाबू ने उसे नहीं छोड़ा तो हिरामन भागा अपने दोनों बैलों के साथ हालांकि इस ताबड़तोड़ में उसकी गाड़ी रह गई पर जान बच गई, और हिरामन ने पहली कसम खाई—'अब से ऐसी चीजों की लदनी नहीं लादेंगे।

दूसरी बात बांस ढोते हुए उसकी गाड़ी एक घोड़ी गाड़ी से टकरा गई थी। घोड़ा गाड़ी की छतरी बांस के अगुआ में फंस गई। दूसरी कसम—'वह अपनी गाड़ी में तब से बांस नहीं लादेगा।'

तीसरी कसम मुख्य कथा है। एक 'जनानी' सवारी गाड़ी में बैठी है। हिरामन गाड़ी हांक रहा है। आज उसकी गाड़ी में मथुरा मोहन नौटंकी कम्पनी में लैला बनने वाली हीराबाई बैठी है। हिरामन की पीठ में गुदगुदी हो रही है। अचानक हिरामन की सवारी ने करवट ली। चौदनी में सवारी का दिव्य सौन्दर्य उसे हतप्रभ कर देता है। अनायास उसके मुँह से निकल पड़ता है—'अरे बाप! ई त परी है।' हिरामन का भोलापन झूम गया है। वह कई बार कनखियों से पीछे देखता है। वह आज बहुत प्रसन्न है—गाता है—

सजनवा बैरी हो गए हमार! सजनवा

अरे चिठिया हो तो सब कोई बांचे, चिठिया हो तो

हाय करमवा, हो करमवा

कोई न बांचे हमार, सजनवा हो करमवा

हीराबाई कह उठी—'वाह कितना बढ़िया गाते हो तुमा।' हिरामन का मुँह लाल हो गया। आज तक किसी ने उसके गाने की ऐसी प्रशंसा नहीं की थी। कजरी नदी आ गई। हीराबाई हाथ-मुँह धोने गई तो हिरामन हीराबाई के तकिए की सुगंध से बावला हो उठा। उसे लगा एक साथ पाँच चिलम गाँजा फूंककर उठी है। जलपान के बाद गाड़ी फिर चल दी।

रास्ते पर आने-जाने वाले गाड़ीवानों को हिरामन हीराबाई का असली परिचय नहीं देता। लोग की दृष्टि से बचाकर वह सुरक्षित पहुँचा देना चाहता है हीराबाई को। सचमुच हीराबाई सुरक्षित पहुँच गई। हिरामन और मंडली को दिया पास नौटंकी देखने का। नौटंकी देखते-देखते नौटंकी खेलने लगी हिरामन की टोली। इस सबके बाद भी हीराबाई से हर कोई अभिभूत हो चूका है।

एक दिन लालमोहन ने हिरामन को बताया कि हरीबाई उसे स्टेशन पर ढूँढ रही है। हिरामन तत्काल स्टेशन पहुँच गया। उसे देखकर हीराबाई बोली—‘लो । हे भगवान! भेंट हो गई, चलो मैं तो उम्मीद खो चुकी थी। तुमसे अब भेंट नहीं हो सकेगी।…………जा रही हूँ। गुरुजी’ हीराबाई ने कुरते के अंदर से हिरामन के पैसों की थैली निकाल कर उसे दे दी। रेलगाड़ी आ गई। हीराबाई चली गई। हिरामन ने गाड़ी गाँव की ओर मोड़ दी। आज उसकी गाड़ी एकदम खाली है उसके होठ बुदबुदा रहे हैं। मानों आज तीसरी कसम खा रहा हो—“कंपनी की औरतों की लदनी ……………।”

संवेदना

कथानक बड़ा नहीं है। लेखक ने उसे विस्तार खूब दिया है। रास्ते भर की एक-एक वस्तु की बारीक-से-बारीक रेखा का वर्णन करता चलता है। लेखक। रिपोतार्ज शैली में ‘स्नैप’ पर ‘स्नैप’ खींचता कहानीकार पाठकों के समक्ष एक-एक स्थिति स्पष्ट कर देना चाहता है।

कहानी का आरंभ बिंदु एक छोटा-सा वाक्य है—‘हिरामन गाड़ीवान की पीठ में गुदगुदी लगती है। ……………’ इस वाक्य के तुरंत बाद आगे की कहानी फ्लैशबैक में चलती है। हिरामन की पहली दो कसमों से संबंधित घटनाओं का विवरण मिलता है और तब हिरामन की पीठ में गुदगुछी पर ठहरा हुआ बिन्दु फिर चलने लगता है। जिस राह पर यह बिन्दु आगे बढ़ता है वह कोई सीधा-सादा नहीं वरन् अनयमित वक्र पगडण्डी है। हिरामन ओर हीराबाई की परस्पर स्निधता एवं आकर्षण ‘उसने कहा था’ के नायक-नायिका का स्मरण करा देता है। मन के उन सूत्रों की बात करता है, जिन्हें संबंधों का कोई नाम नहीं दिया जा सकता। मन के ये सूत्र इधर-उधर छिटके प्रसंगों से गुजर कर कथा के अंत में अपनी नियति पर पहुँच जाते हैं। अनाम भाव-सूत्रों को कोई निश्चित गन्तव्य स्थल नहीं होता। वे तभी तक साथ हैं तब जब तक जरूरी है इसके बाद कोई आग्रह नहीं।

हीराबाई की तुलना में चालीस साल के हट्टे-कट्टे, काले-कलूटे देहाता नौजबान हिरामन की उजड़तापूर्ण वृत्तान्त, उसकी गप्पबाजी, नामलंगर डयोढी के राजा की कहानी, जिसके घर देवता ने जन्म लिया था, और जिसे लाट साहब भी नहीं सिर्फ लाटनी पहचान सकी थी, घोड़े लद्दे बनियों के साथ हिरामन का मजाक, गाँव के बच्चों का गाड़ी देखकर रटे-रटाये अन्दाज में ‘लाली-लाली डोलियाँ में लाली रे दुलहनियाँ’ गाना और हिरामन का दिवास्वप्न, महुआ भटियारिन का गीत, जो कहानी को प्रतीकात्मक अर्थ प्रदान करता है साथी, गाड़ीवानों के किस्से, पलटदास की रमैन, लहसनवाँ का हीराबाई की साड़ी धोकर अपने को धन्य मानना, इत्यादि छोटे-छोटे प्रसंग कहानी की संरचना के महत्त्वपूर्ण घटक हैं और मुख्य कथा की सतह से नीचे जाकर उसे गहराई और अर्थवता प्रदान करते हैं।

मेलों के रूप में धीरे-धीरे गाँवों में शहर प्रवेश कर रहा है। ‘रेणु’ ने इस बदलाव की धड़कनों को जितने करीब से सुना था और पहचाना था उतनी ही ईमानदारी एवं लग्न से उन्हें चित्रित भी किया। कमलेश्वर ने ‘रेणु’ के संबंध में कहा है—‘बीसवीं सदी का संजय रस, गंध स्वर नाद, आकार और बिम्बों के माध्यम से ‘महाभारत’ की सब वास्तविकता, सत्य, घृणा, हिंसा, प्रमाद, मानवीयता, आक्रोश और दुर्घटनाएँ बयान करता रहता है। उसके ऊँचे माथे पर महर्षि वदेव्यास का आशीश अंकित है ……………।’

मिथकों का प्रयोग

‘रेणु’ ने अपनी कहानियों में लोक यथार्थ स्थितियों को उनके सामाजिक परिवेश में रूपायति करने का प्रयत्न किया है। इसके लिए उसने मिथकों का समावेश करके इन्हें गहराई और व्यापकता देने की कोशिश की है।

‘तीसरी कसम’ हिरामन और हीराबाई के परस्पर आकर्षण और अलग होने की नियति की कहानी है। महुआ घटवारिन की अंतर्कथा इनकी इस नियति को प्रतीकात्मक ढंग से रेखांकित करती है। कहानी के दोनों पात्र—हिरामन और हीराबाई इस मिथक की पीड़ा अपने भीतर अनुभव करते हैं। ‘महुआ घटवारिन’ गाते-गाते हिरामन भावुक हो उठता है।

“उसको लगता है वह खुद सौदागर का नौकर है। महुआ और बात नहीं सुनती। परतीत करती नहीं उलटकर देखती भी नहीं। और वह थक गया है तैरते-तैरते ……………”

इस बार लगता है महुआ ने अपने को पकड़ा दिया। खुद ही पकड़ में आ गई। उसने महुआ को छू लिया है, पा लिया है, उसकी थकान दूर हो गयी है। पन्द्रह-बीस साल तक उमड़ी हुई नदी की उल्टी धारा में तैरते हुए उसके मन को किनारा मिल गया है। आनन्द के आंसू कोई रोक नहीं मानते ……………।”

किन्तु यह हिरामन का भ्रम है, उसका दिवास्वप्न है। हीराबाई के रूप में अवतरित महुआ घटवारिन उसकी पकड़ में नहीं आती। कंपनी की औरत कंपनी में चली जाती है मगर जाते समय हिरामन से कहती है—‘तुम्हारा जी बहुत छोटा हो गया है। क्यों मीता? …………… महुआ घटवारिन को सौदागर खरीद जो लिया है गुरु जी ……………।’

महुआ घटवारिन की कथा का दर्द आकर्षण में बंधे दो जीवों का दर्द नहीं, उसका एक सामाजिक संदर्भ भी है। सौदागर पूँजीवाद व्यवस्था के एक मात्र मूल्य उस धन का प्रीतक है, जिसने प्रेम, सौन्दर्य भावना, बलिदान आदि जीवन मूल्यों को नकार दिया है।

कहानी में हिरामन द्वारा अपनी विशिष्ट शैली में वर्णित नामलंगर ड्योढ़ी का वृत्तान्त भी एक मिथक है। नामलंगर ड्योढ़ी के राजा के घर देवता ने जन्म लिया था, जिसे किसी ने नहीं पहचाना। देवता आखिर देवता है। एक बार लाट साहब मय लाटनी के हवा गाड़ी में आए। लाट ने भी नहीं पहचाना आखिर लाटनी ने। बात फिर भी हंसी में उड़ गई। तब खेल शुरू हुआ देवता का। पहले दोनों दान्तर हाथी, मोर फिर घोड़ा, फिर ‘टपपटाँग’ …………… अर्थात् धन-दौलत, माल-मवेशी सब साफ।

यह ऊटपटाँग किस्सा सुनाते समय हिरामन की मनोदशा के वर्णन इस मिथक के अर्थ का आभास सहज ही मिलता है—

‘हिरामन का मन पल-पल में बदल रहा है। मन में सतरंग। छपा धीरे-धीरे खिल रहा। उसको लगता है उसकी गाड़ी में देवकुल की औरत सवार है। देवता आखिर देवता है ……………।”

कहानी के अंत में देवकुल की यह औरत, अर्थात् हीराबाई उसे छोड़कर चली जाती है तो उसके मन की सारी दौलत, सारा सुख-चैन अपने साथ ले जाती है।

‘रेणु’ की कहानियों में मिलने वाले मिथकों के साथ-साथ उनके ‘मोटीफ’ (अभिप्राय) का अध्ययन भी उन्हें समझने में सहायक सिद्ध हो सकता है। किसी कृति का अथवा कृतिकार की अनेक कृतियों का प्रमुख या आवर्तक भाव अथवा विषय ही ‘मोटीफ’ कहलता है। ‘रेणु की कहानियों’ में कुछ बिम्ब दृश्य, प्रसंग या विषय बार-बार आते हैं, जैसे मेला, नाच, रेल, रेलयात्रा आदि। मेला ‘रेणु’ का प्रिय मोटीफ है उन्होंने अधिकतर ग्रामीण जीवन की कहानियाँ लिखी हैं और मेला ग्रामीण समाज की एक महत्वपूर्ण संस्था या प्रथा है।

‘तीसरी कसम’ में हिरामन और हीराबाई का मिलन मेले में ही होता है और हीराबाई के चले जाने के बाद ही यह मेला वाच्यार्थ और प्रतीकार्थ दोनों ही दृष्टियों से रहता है।

रेलयात्रा उनका दूसरा प्रिय मोटीफ हैं चालीस साल के हट्टे-कट्टे देहाती गाड़ीवान ने अपने मन से सभी इच्छाओं को, यहाँ तक की शादी की इच्छा को बाहर निकाल फेंका है। परंतु इस यात्रा की इच्छा के वह नहीं निकाल सका है। हीराबाई के चले जाने पर जब उसके लिए सारा संसार सूना हो जाता है तो यही एक इच्छा उसके जीने का अवलम्ब बनती है—

“..... रेलवे लाईन से बैलगाड़ी की कच्ची सड़क गई है दूर तक। हीरामन कभी रेल पर नहीं चढ़ा है। उसके मन में फिर पुरानी लालसा झांकी, रेलगाड़ी पर सवार होकर गीत गाते हुए जगन्नाथ धाम जाने की लालसा।”

मूल लघु कथानक को लेखक ने व्यापक विस्तार दिया है। कहानी की स्थितियों और चरित्रों की बारीकी-बारीक रेखाओं को लेखक उभारता हुआ चलता है। कुछ भी अछूता न रह जाए, इसलिए इसमें बहुत-सी प्रासांगिक कथाएँ भी जुड़ गई हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इतना विस्तार होने पर भी कहानी में रोचकता और कौतूहल बराबर बना रहता है। ‘तीसरी कसम’ नई कहानी है इसलिए वह न तो अंतिम बिन्दु से शासित है, न ही उसका कथानक नाटकीय मोड़ों से गुजरता है। सम धरातल पर चलती हुई यह कहानी किसी आकस्मिकता का शिकार नहीं होती। अंतिम बिंदु पर भी किसी मार्मिक भाव का अंकन करने के स्थान पर एक संक्रान्त प्रेम-संवेदना को परिवेश में व्याप्त करके चित्रित करना है। इसलिए अंत में जब हीराबाई गाड़ी से जा रही होती है और हिरामन से कहती है, ‘तुम्हारा मन बहुत छोटा हो गया है। क्यों मीता? महुआ घटवारिन को सौदागर ने खरीद लिया है गुरु जी।’ तब पाठक को ऐसा नहीं लगता कि कुछ अघटित घट गया है इसी ट्रैपिक नियति की ब्याही जो पूरी कहानी है, यहाँ आकर अधिक घनीभूत हो उठती है।’ (डॉ. रामदरश मिश्र)

चरित्र-दृष्टि

पात्र मूलरूप से मूलकथा भाव के वाहक होते हैं। गाँवों की निर्दोष भूमि में जन्मे-पले भोले-भाले व्यक्ति रेणु को बहुत प्रिय थे। इसीलिए कहानी के अधिकांश पात्र अंचल विशेष से आते हैं। उनका पूरा व्यक्तित्व उस अंचल विशेष की पृष्ठभूमि में ही उभरता है। ‘रेणु’ का कथा-जगत् भांति-भांति के पात्रों से भरा-पूरा है। प्रेमचन्द को छोड़कर शायद ही अन्य कहानीकार की रचनाओं में इस प्रकार नाना वर्गों और वृत्तियों के पात्रों के दर्शन होते हैं। इनकी कहानियों में पात्रों की संख्या दर्जनों तक पहुँचती है। रेणु के पात्रों में गाँव के छोटे किसान, हलवाहे, कहार, लोहार, गाड़ीवान, शहर के दुखी परिवार सभी शामिल हैं।

हिरामन

‘चालीस साल का हट्टा-कट्टा काला-कलूटा देहाती नौजवान अपनी गाड़ी और बैलों के सिवा दुनिया की किसी बात में विशेष दिलचस्पी नहीं लेता। घर में बड़ा भाई है, खेती करता है। बाल बच्चे वाला आदमी है। हिरामन भाई से बढ़कर भाभी की इज्जत करता है। भाभी से डरता भी है।’

हिरामन के चरित्र की यह निश्छलता पूरी कहानी में छाई हुई है और प्रत्येक पात्र प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में इससे प्रभावित है।

चालीस साल का होने पर भी घर-गृहस्थी का अभाव कहीं उसके अंतर में उसे सालता रहता है। गाड़ीवानों के पूछने पर वह कहता है—

“गाड़ी पर ‘बिदागरी’ (नैहर व ससुराल जाती हुई लड़की) है।”

कंपनी की औरत होते हुए भी वह उसे किसी पाक दुल्हन की तरह छिपाकर ले जाना चाहता है। नारी का इतना सान्निध्य उसके लिए स्वप्न है। यह सोचकर ही कि गाड़ी में जनानी सवारी बैठी है, उसके पीठ में गुदगुदी होने लगती है। “आसीन-कातिक की भोर में छा जाने वाले कुहासे से हीरामन को पुरानी चिढ़ है। बहुत बार वह सड़क भूलकर भटक चुका है। किन्तु आज की भोर के इस घने कुहासे में भी वह मग्न है। नदी के किनारे घने खेतों के फूले हुए धान के पौधों की पवनियाँ गंध आती हैं। पर्वपावन के दिन गाँव में ऐसी ही सुगन्ध फैली रहती है। उसकी गाड़ी में फिर चम्पा का फूल खिला है। उस फूल में एक परी बैठी है जै भगवती।

हिरामन ने आंख की कनखियों से देखा उसकी सवारी मीता.....हीराबाई की आँखें गुजुरगुजुर उसको हेर रही हैं। हिरामन के मन में कोई रागिनी लज उठी। सारी देह सिरसिरा रही है।’

हीराबाई का अप्रतिम सौन्दर्य उसे अन्दर तक अभिभूत कर जाता है और उसके शुष्क जीवन में एक छोटी सी रस की धारा बहा देता है, वरना—

“हिरामन की शादी हुई थी, बचपन में ही। गोने के पहले ही दुल्हन मर गई। हिरामन को अपनी दुल्हन का चेहरा याद नहींदूसरी शादी? दूसरी शादी ने करने के अनेक कारण हैं। भाभी कुमारी लड़की से ही शादी करवाएगी। कुमारी का मतलब हुआ पाँच-सात साल की लड़की। कौन मानता है सरधा कानून? कोई लड़की वाला दो ब्याह को अपनी लड़की गरज में पड़ने पर ही दे सकता है। भाभी उसकी तीन सत्र करके बैठी है, सो बैठी हैं भाभी के आगे भैया की भी नहीं चलता।अब हिरामन ने तय कर लिया है शादी नहीं करेगा। कौन बलाय मोल लेने जाए। ब्याह करके फिर गाड़ीवानी क्या करेगा कोई। और सब कुछ छूट जाए गाड़ीवानी नहीं छोड़ सकता हिरामन।”

हिरामन सब कुछ छोड़ सकता है। अगर हीराबाई जैसी औरत मिल जाए। कजरी नदी के घाट पर गाँव की बहु-बेटियों की तरह सिर नीचा करके धीरे-धीरे हीराबाई को जाते देखकर कहीं सुप्त आकांक्षाएँ जागी गयीं। ‘एक बार इधर-उधर देखकर हीराबाई के तकिए पर हाथ रख दिया। फिर तकिए पर कहुनि डालकर झुक गया, झुकता गया, खूशबू उसकी देह में समा गई। तकिए के गिलाफ कर कढ़े फूलों को ऊँगलियों से छूकर उसने सूँघा, हाय रे हाय इतनी सुगन्धा हिरामन को लगा, एक साथ पाँच चिलम गाँजा फूंककर उठा हो।’

मन का यह ताप हिरामन को हीराबाई से चुपचाप कहीं जोड़ देता है। नौटंकी में हीराबाई को ‘पतुरिया’ कहने पर वह कहने वाले से भिड़ जाता है। इसी तरह महुआ की कथा सुनाते कहीं हीराबाई की प्राप्ति की लालसा उसके अदृश्य मन में उभर आती है। हिरामन संवेदनशील होने के साथ-साथ समझदार भी काफी है। गाड़ी पर सवार हीराबाई को जाते देखकर भी वह केवल एड़ी से अगूठे को मसलकर अपने को संभाल लेता है। कुछ पलों के लिए उठी सतरंगी भाव लहरों को किनारों की तरह चुपचाप समेट लेता है सिर्फ यह कहते हुए—अजी हो मारे गए गुलफाम।

हिरामन जैसे एकाकी पात्रों के साथ-साथ सुन्दर, सुशीला, ममतामयी और त्यागमयी नारी के बार-बार दर्शन होते हैं, जो शरद की नारी की प्रतिमूर्ति हैं। हीराबाई ऐसी ही एक पात्र है, जो सीधे सादे हिरामन गाड़ीवान पर अपना सब कुछ निछावर करना चाहकर भी कुछ न कर पाने के लिए विवश है क्योंकि ‘महुआ घटवारिन’ को सौदागर ने खरीद लिया है। मन की पीड़ा के धरातल पर हीराबाई और हिरामन एक-दूसरे के पूरक हैं। सामान्य से दीखने वाले ये पात्र अपनी सादगी, ईमानदारी और गहराई के सकारण मन को छूते हैं। कहानी समाप्त होने के बाद भी कहीं मन में उनका अनकहा, नैराशय, विवशता आसपास मंडराता रहता है। यह पात्र और चरित्र-चित्रण की एक बहुत

बड़ी विशेषता कही जा सकती है, अन्यथा कभी-कभी तो बड़े धमाके के साथ जाने वाले पात्र भी पाठकों के मन मस्तिष्क पर टिक ही नहीं पाते। इस दृष्टि से 'तीसरी कसम' के पात्र सजीव प्रभावशाली एवं सहज हैं।

शिल्प-विधान

भाषा शिल्प या अभिव्यक्ति का एक महत्वपूर्ण तत्त्व है। हालांकि भाषा का प्रश्न शिल्प तक ही सीमित न रहकर रचनाकार की दृष्टि से भी जुड़ा होता है। अपने कथन की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए सही भाषा की तलाश हर ईमानदार कलाकार को होती है। रेणु ने इस सही भाषा की तलाश शब्दकोशों, धुंधले कल्पनालोक या प्रयोगों के अंधरे कमरों में नहीं की वरन् प्रेमचन्द की तरह उन्होंने भी भाषा की संभावनाओं को जी रहे जीवन के अंदर से ही खोजने का प्रयास किया। उन्होंने लोकभाषा की शक्ति को पहचानकर परम्परागत भाषिक ढाँचे से अपनी रचनाओं को मुक्त किया। जिन लोगों की कहानियाँ लिखी उन्हीं की भाषा का यथासंभव प्रयोग करने का प्रयास किया क्योंकि उन्हें शुद्ध साहित्यिक शिष्ट भाषा की मृत्यु का अहसास हो चुका था। इसी कारण जहाँ तक संभव हो सका उन्होंने जीवन के लोक-भाषा से अपनी रचनाओं को प्राणवान बनाने की कोशिश की।

'तीसरी कसम' के हिरामन की तरह उनका भी विश्वास था कि

कचराही बोली में दो-चार सवाल-जबाब चल सकता है, दिल खोलकर गप तो गाँव की बोली में ही की जा सकती है किसी से।' इसलिए संवाद या पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए उन्होंने स्थानीय ग्रामीण शब्दों, बिगड़े देशज, विदेशी शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। गाँव की बोली को 'कचराही' में बदलकर भी उसकी लय और जीवन्तता को अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न किया। सांकेतिक भाषा में सौन्दर्य वृद्धि करती है—

'तीसरी कसम' में हिरामन को लगता है कि हीराबाई की 'मुस्कुराहट में खुशबू है—।' उसके साथ बतियाते समय उसे लगता है कि उसके मन में सतरंगा छाता धीरे-धीरे खिर रहा है। हीराबाई के सामीप्य से जब उसकी आंखें तरल हो जाती हैं तो 'डबडबाई आंखों से हर रोशनी सूरजमुखी फूल की तरह दिखाई पड़ती है।' तथा हीराबाई के चले जाने के बाद उसके होंठों पर—'मरे हुए मुहूर्तो की गूंगी आवाजें मुखर होना चाहती है।'

उसके द्वारा थोड़ा-से शब्द पाठक के मन में बहुत सारी प्रतिक्रियाओं को एक साथ उत्पन्न करके एक संश्लिष्ट अर्थबोध का कारण बनते हैं। 'तीसरी कसम' में चोरी का माल ढोते हुए जब हिरामन काफिले के साथ पकड़ा जाता है तो गाड़ी को वहीं छोड़कर बैलों के समेत भाग जाने का फैसला करता है। इस फैसले को रेणु इस प्रकार वर्णित करते हैं—

“एक दो तीन। नौ ग्यारह। भाषा के अर्थवत्ता की दृष्टि से ये छः शब्द महत्वपूर्ण हैं।
.....एक दो तीनएक ओर उस नीलाम की बोली की ओर संकेत करते हैं, जिससे हिरामन आशंकित है। वह जानता है कि यदि पकड़ा गया तो उसके बैल भूखे-प्यासे रहने के बाद नीलाम हो जाएंगे। दूसरी ओर वे शब्द अपने संकल्प को कार्यान्वित करने की तत्परता की ओर इंगित करते हैं।

'तीसरी कसम' की शैली भी अपनी अलग शैली है। इसे किसी बने बनाए खाने में नहीं डाल सकते। 'यह वर्णनात्मक तो है ही साथ ही नाटकीयता भी लिए हुए है। क्या पात्रों के संवादों के माध्यम से आगे बढ़ती है। इसमें लेखक ने आत्मसंवाद शैली का अत्यंत सजीव प्रयोग किया है। इसके माध्यम से आगे बढ़ती है। इसमें लेखक ने आत्मसंवाद शैली का अत्यंत सजीव प्रयोग किया है। इसके माध्यम से पात्र के द्वन्द्व को तथा दूसरे पात्रों के प्रति उसकी मौन प्रतिक्रियाओं को भी अभिव्यक्ति मिलती है। 'प्रस्तुत कहानी में आत्मसंवाद का बड़ा ही रचनात्मक उपयोग किया गया है। (डॉ. रामदरश मिश्र)

पूरी कहानी में रिपोतार्ज शैली का भी उपयोग किया गया है। लेखक पात्रों के हाव-भाव, उनकी क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ सूक्ष्म दृष्टि से नोट करता चलता है। कहीं छूट न जाए भाव हमेशा उसे चौकन्ना रखता है फिल्म की तरह वह प्रत्येक शाट् लेता चलता है। भाषा बराबर लेखक का साथ देती चलती है।

‘रेणु’ की सभी कहानियाँ आम आदमी के सुख-दुःख, कर्मठता और आस्था की बात करती हैं। आँचलिक परिवेश से उभर कर ये कहानियाँ बदलती परिस्थितियाँ की ओर संकेत करती हैं। ‘तीसरी कसम’ का प्रतिपाद्य यदि व्याख्याति करना चाहें तो कह सकते हैं कि यह कहानी मानवीय संवेदनशीलता, मानव संबंधों का उद्घाटन एवं नवीन मूल्यों का अन्वेषण करती है। कहानी का स्वर मानवीय एवं चित्रण यथार्थ है। इन दोनों के समन्वय से ऐसे आदर्श की स्थापना की गई है जो कर्म की प्रेरणा देता है। संघर्ष की क्षमता पैदा करता है। कहानी के पात्र टूट-टूटकर भी जिजीविषा से जुड़े हुए हैं। कहीं भी हताश होकर बैठ नहीं जाते। आस्था और संकल्प के साथ बढ़ जाते हैं। जीवन की शेष यात्रा पर। हिरामन और हीराबाई दोनों अपने-अपने रास्तों पर अग्रसर पूर्ववत् हैं। लेखक आस्थावादी दृष्टि पाठकों को सन्देश देती है कि जीवन अभी भी जीने योग्य है। गाँवों के आँचलिक परिवेश और उसमें आ रहे बदलाव को रेणु ने इस कहानी में बहुत सुन्दर रूप से चित्रित किया है। अंचल की धड़कने हर स्थिति और हर पात्र के साथ सुनाई देती है, जिसे लेखक ने अत्यंत सजीवता एवं कलात्मक ईमानदारी से चित्रित किया है। पूर्णिया जिले की संस्कृति, भाषा सामाजिक रीति-रिवाज, रहन-सहन का स्तर, रूढ़ियों, परम्पराओं और विभिन्न प्रकार के अन्धविश्वासों तथा मिथ्याधारणों को ‘तीसरी कसम’ के रूप में हमारे सामने प्रभावशाली रूप में देखा है।

संभावित प्रश्न

1. ‘तीसरी कसम’ में आँचलिक परिवेश की सोंधी महक विराजमान है—सिद्ध कीजिए।
2. ‘तीसरी कसम’ कहानी की संवेदना और उसके शिल्प की विवेचन कीजिए।

वापसी

(उषा प्रियंवदा)

—डॉ. वीनू भल्ला
दिल्ली विश्वविद्यालय

परिवेश और कथा यात्रा

छठे दशक में लिखी गयी कहानी को न केवल साहित्यिक विधा के रूप में प्रतिष्ठा मिली अपितु इसके साथ ही उसने नयी बहसों को भी जन्म दिया। सन् 1950-1960 के कहानीकारों ने कहानी में जिस यथार्थबोध को नये परिप्रेक्ष्य और संदर्भ में अभिव्यक्त किया, उस यथार्थ को लेकर चलने वाला वह विशाल मध्य और निम्नमध्यवर्ग है, जो अपनी जीवनी-शक्ति से दुर्दान्त संकट को जाने-अनजाने झेलता रहा। इस दौर की कहानी जीवन के भौतिक संदर्भों से निर्मित इतिहास बोध और दृष्टि से अनुभव की पहचान कराने में अधिक सक्रिय रही। कहानियाँ मूलतः मानवीय अनुभूति और संबंधों में बिखराव, संबंधों के टूटने और बिखरने के दर्द की कहानियाँ हैं। यही यथार्थ कहानी के माध्यम से उभर कर आया। इस दशक के कहानीकारों में मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, भीष्म साहनी की समकालीन महिला लेखिकाओं-मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती एवं ऊषा प्रियंवदा आदि ने अपनी दृष्टि से अपने जीवन को देखा। इन कहानी लेखिकाओं ने नारी-पुरुष संबंधों की जटिलता और कुण्ठाओं को अधिक मुक्त भाव से चित्रित किया। पारिवारिक ढांचे में पुरुष का वर्चस्व डगमगाने लगा। सामाजिक परिस्थितियों और समस्याओं के दबाव से भावना और संबंध के भीतर बदलाव आया। उससे स्त्री पुरुष संबंधों में तनाव की प्रक्रिया आरंभ हुई। पारिवारिक संबंधों में भावुकता का क्षरण होने लगा। निश्चित और प्रगाढ़ संबंध भी अचानक संदिग्ध और प्रश्न बन गए। इस दशक की कहानियाँ पिछले खेवों की कहानियों से भिन्न मिज़ाज की कहानियाँ दीखने लगीं। उषा प्रियंवदा ने अपनी कहानियों में इसी मिज़ाज को अपनाया। उनकी कहानियों में नारी जीवन के बदलते मूल्य को स्वर मिला। यह मध्यवर्गीय नारी जीवन की सघनताओं के बीच घिरी एक अत्यंत संवेदनशील पात्र के रूप में चित्रित हुई। उनकी कहानियों में घटनाओं, स्थितियों और दृश्यों की विविधता को बहुत महत्त्व मिला लेकिन कहानियों में विषय को शायद ही कहीं दोहराया है।

उषा प्रियंवदा ने जब लिखने का सिलसिला आरंभ किया उस समय पुरानी कहानी का ढांचा तो चरमरा रहा था और नई कहानी का रूप शिल्प अभी तैयार नहीं हुआ था। अतः उनकी आरंभिक कहानियाँ पुरानी कहानी के वस्तुशिल्प की कहानियाँ हैं। सरिता में प्रकाशित 'लालचुनर' उनकी सर्वप्रथम कहानी है। उसके बाद 'मान और हठ' तथा 'नयी कोपलें', 'अकेली राह' इसी शिल्प पर लिखी कहानियाँ हैं। **नई कहानी आंदोलन से जुड़ी न होकर भी उषा प्रियंवदा ने अपने ढंग से व्यक्ति जीवन को उसके परिवेश के साथ प्रस्तुत किया है।** उनकी कहानियों का संबंध किसी पात्र से नहीं सिर्फ संदर्भ से है।

भारतीय परिवेश में उषा प्रियंवदा अपनी आधुनिक मानसिकता के कारण और विदेश में रहकर भारतीय संस्कारों के कारण विसंगतियों से निरंतर जुझती रहीं। दोनों ही स्थितियों में उनकी कहानियों के सरोकार मानवीय संबंध ही रहे। चाहे वह स्त्री पुरुष संबंध हों या विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त नायिकाओं एवं कामकाजी नारी की दुनिया और उसके बाद विदेशी गयी हुई युवती की आर्थिक, सामाजिक और यौन नैतिकता से संबंधित समस्याएँ हों। भारतीय

परिवेश में इनकी नारी पात्र अपनी आधुनिक मानसिकता के कारण और पश्चिमी परिवेश में अपने भारतीय संस्कारों के कारण जीवन की विसंगतियों का सामना करती है। अमरीका प्रवास के दौरान भारतीय प्रवासी महिलाओं की समस्याओं को नये संदर्भों में प्रस्तुत किया है। दो देशों के सांस्कृतिक अन्तराल के कारण व्यक्ति के मानसिक द्वन्द्व को उभारा है। उषा की कहानियों का परिवेश भारतीय हो अथवा पश्चिमी उनका सरोकार मानवीय संबंध-विशेषतः पारिवारिक संबंध ही रहा है। व्यक्ति जीवन को उसके परिवेश के साथ उकरने का उषा प्रियवंदा का अपना ही ढंग है। उनके कहानी संग्रह—‘फिर बसंत आया’, ‘जिन्दगी और गुलाब’, ‘एक कोई दूसरा’ तथा ‘कितना बड़ा झूठ’ के अतिरिक्त ‘पचपन खम्भे लाल दीवारें’ और ‘रुकोगी नहीं राधिका’ दो उपन्यास भी प्रकाशित हुए।

उषा प्रियवंदा के रचना संसार वस्तु और शिल्प में नयेपन को रेखांकित करता है। उनकी कहानियों अनुभवों की विविधता की अपेक्षा अनुभूति की सघनता एवं अभिव्यक्ति की कुशलता को व्यक्त करती है। पुराने कहानीकारों की भांति विचार या आइडिया की कहानियाँ न लिखकर उषा प्रियवंदा ने भोगे हुए जीवन के निजी अनुभवों को अभिव्यक्ति दी है। व्यक्ति केन्द्रित उनकी कहानियाँ समाज का व्यापक अंग न बनकर पारिवारिक दायरे में ही सिमटी रहीं। अपनी कहानियों में उषा ने व्यक्ति और परिवार को भिन्न स्तरों पर प्रस्तुत किया है। उनकी कहानियाँ हो अथवा उपन्यास उसकी कथावस्तु के केंद्र में आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर किन्तु सामाजिक भीतियों में समस्याग्रस्त नारी जीवन को रेखांकित किया है। एक-दूसरे से अपरिचित, संबंधों में बनती दरार आपसी व्यवहार में एक प्रकार का ठंडापन, उदासीनता या बदलाव आ गया है। परिवार को आर्थिक बोझ अब पिता या भाई नहीं बेटियाँ उठाने लगी हैं। वर्चस्व और महत्त्व के केन्द्र बदल गए। बदलाव बहन में ही नहीं माँ के व्यवहार में भी अनायास आ गया है। ‘जिन्दगी और गुलाब के फूल’ में जो स्थितियाँ बनती हैं वे एक ओर यदि सुबोध को शोभा से काट देती हैं तो दूसरी ओर अपनी बहन वृंदा की नौकरी के बाद परिवर्तित संदर्भों में उसे और भी अपदार्थ बनाकर छोड़ देती है। इन बदली हुई स्थितियों में न केवल नारी की भूमिका बदल गई अपितु अधिक महत्त्वपूर्ण एवं सार्थक हो गई है। उषा प्रियवंदा ने इन्हीं बदलती स्थितियों में बदलती नारी की भूमिका को अंकित किया है।

स्त्री-पुरुष के आपसी संबंधों को नैतिक धारणा में मूलभूत अंतर के कारण पति-पत्नि के आपसी संबंधों के संक्रमण और संकट के फलस्वरूप अजनबीपन एवं अनेकपन का तनाव टूटता नहीं और आत्मीय विडंबना हो जाती है। संबंधों के बीच एक प्रकार का ठंडापन आ गया है। परिणामतः ‘विवाहित जीवन’ संबंधों को ढोते रहने की प्रक्रिया से अधिक कुछ नहीं। एक छत के नीचे रहते हुए अपने ढंग से जीने की स्वतंत्रता के कारण अब पति-पत्नि एक दूसरे के लिए नहीं अपनी जिंदगी अपने लिए जीते हैं। संबंधों में पारस्परिक उदासीनता से उत्पन्न इस अकेलेपन को कभी मनुष्य स्वेच्छया वरण करता है और कभी उसके वरण के लिए विवश है। ‘मोहबंध’ में अकेलापन अचला को सालता है, जिसे वह स्वयं अपने पर ओढ़ती है तो ‘छुट्टी का दिन’ में अकेलापन माया की जिन्दगी में। ‘माया का जीवन एक रेतीला मैदान है। जिसका कोई ओर छोर नहीं। अविवाहित नौकरीपेशा एवं परिवार से अगल एकाकी जीवन जीने की मजबूरी, अकेलेपन से पीड़ित माया के लिए ‘छुट्टी का एक दिन’ बिताना इतना उबाऊ होता है कि उसे खुद अपने लिए अनजान अजनबी बना देता है। नितांत अकेले बैठकर सिनेमा देखने की आदत ने होने पर भी अपने अकेलेपन को दूर करने की चाह में अकेली सिनेमा देखने जाती है। क्या वह जीवन के खोखलेपन और सारहीनता से छुटकारा पा सकती? ओर ‘वापसी’ में अकेलेपन को झेलने के लिए गजाधर बाबू विवश हैं। बाबूजी के टूटने का दर्द उनका निजी होते हुए भी एक व्यापक दर्द है, जो मध्यवर्ग का एक ऐसा यथार्थ है जहाँ कोई संघर्ष नहीं केवल व्यर्थता बोध है। यह व्यर्थता बोध गहन अवसाद को कुरेदनेवाला मानव को खण्डित व अकेला बना देने वाला है। संबंधहीनता और व्यक्ति की आत्मपरकता तकनीकी युग की जड़ता का द्योतक है। व्यक्ति की विवशता, मूल्यों के विघटन की अभिव्यक्ति का अनुभव कहानी में व्याप्त है।

उषा प्रियवंदा की कहानियों में स्त्री-पुरुष संबंधों में प्रेम का निकट, भावनात्मक एवं प्लाटैनिक रूप नहीं मिलता, उसमें शारीरिक आवश्यकताओं को सहज रूप में स्वीकारा गया है। सूक्ष्म संवेदनाओं के सहारे ऐन्द्रिय मांसलता को लेखिका ने अपनी कहानियों में चित्रित किया है। जिससे प्रेम को विस्तृत परिवेश मिला है। विवाहित जीवन में तथाकथित 'प्रेम' नहीं मात्र आपसी संबंध है। संबंध भी ऐसे जिसमें आवेगहीन ठंडापन सा घिर गया है। वैवाहिक जीवन संबंधों को ढोते रहने की प्रक्रिया मात्र ही है। पति-पत्नि अपनी जिंदगी अपने लिए ही जीते हैं। एक-दूसरे के प्रति प्रेम का अर्थ ही बदल जाता है। संबंधों के स्वरूप में बदलाव के कारण वैवाहिक जीवन में भावुकता का क्षरण हुआ और आपसी संबंध समझौता बनकर रह गए। संबंधों में यह ठहराव एवं ठंडेपन की परिणति विवाहेतर संबंधों में प्रस्फुटित होती है। विवाहेतर संबंधों में देह के प्रति महज एक आकर्षण को उषा प्रियवंदा ने अपनी कहानियों में उभारा है। इस देह आकर्षण में संबंधों की सच्चाई और झूठ, पुरुष के शरीर की गंध, पुरुष के स्पर्श की चाह 'कितना बड़ा झूठ' की किरण को मैक्स की दैहिक आवश्यकता है तो 'मोहबंधा' की अचला को राजन के कोट को तहा कर सिर के नीचे लगा लेने भर की। पुरुष शरीर की अपनी विशिष्ट गंध के प्रति अचना का आकर्षण उसके भीतर की निर्जीवता में स्फूर्ति भर देता है। विशिष्ट गंध की प्राप्ति अचला का चरम सुख है। उसके लिए मुक्ति का क्षण है। संबंधों की तलाश की कहानी 'मछलियाँ' में रोमांटिक क्षण प्रेम में भावुकता को कहीं उजागर नहीं कर पाये। मनीश, विजी और मुन्नी के संबंध जिस यथार्थ संवेदना से बुने गए हैं उनमें अवसाद और निराशा का बाहुल्य है जो कहानी में करुणा में करुणा का बिन्दु उभारती हैं।

उषा प्रियवंदा की कहानियाँ समाज की बदलती नैतिकता को रेखांकित करती है। सामाजिक वर्जना और संबंधों में खुलेपन के आग्रह की ओर इशारा करती है। दैहिक पवित्रता के मिथ को तोड़कर सहज देहधर्म को स्वीकारा है 'चाँद चलता रहा' की रोहिणी का अरविंद के आग्रह को टुकराकर उसकी अकाल मृत्यु का कारण वह स्वयं को समझती है और गलीज जिन्दगी जीने की विवशता में निबंध जीवन की ओर मुड़ जाती है।

इस दौर की कहानियों में प्रेम बदले हुए रूप में परिभाषित हुआ। प्रेम की अनिश्चिता के कारण संबंधों का अनिश्चित होना स्वाभाविक है। उषा प्रियवंदा प्रेम की वायवी और रोमानी धारण से मुक्त होने की कोशिश में हैं। प्रेम का यथार्थ चित्रण 'एक काई दूसरा' में रानी का डॉ. कुमार के संपर्क से उसकी समूची सोच ही नहीं उसके जीवन का ढर्रा भी बदल देता है। रानी को अपनी सम्पन्नता, समृद्धि एवं यौवन का अर्थ बदलता नजर आने लगा। प्रेम की यथार्थता पारस्परिक ठंडेपन और बेगानेपन की अभिव्यक्ति 'कोई नहीं' की नमिता में 'झूठा दर्पण' की अमृता में व्यक्त हुई है। पति-पत्नि के बीच कलह का कोई कारण नहीं केवल रागात्मक संबंध टूट गए है। फिर भी अकेलापन निरंतर उन्हें कलह या पीड़ा की स्थिति में रखता है। प्रेम-व्यवहार नितान्त आत्मकेन्द्रित हो गया है।

उषा प्रियवंदा की कहानियों में भारतीय नारी पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति से इस कदर प्रभावित है कि उसका वैचारिक रूपान्तरण सहज ही देखा जा सकता है। 'कितना बड़ा झूठ' संग्रह की कहानियों में भारतीय पति और अमेरिका प्रेमी के बीच मानसिकता में टकराव होता है। बदली हुई वैचारिकता और पश्चिमी परिवेश के अनुरूप अपने को ढाल लेती है। कहानियों के नारी पात्र विदेशी परिवेश में भारतीय नारी के जाग्रत व्यक्तित्व को प्रस्तुत करते हैं। उषा प्रियवंदा ने भारतीय और पश्चिमी मूल्यों के संघर्ष में जीते, पात्रों के मानसिकता तनाव को कहानी में बारीकी से पेश किया है।

संग्रह की कहानियों का मूल स्वर आवेग की स्वीकृति का है। जिसके कारण नारी पात्र सेक्स एवं सामाजिक नैतिकता को निर्ममता से तोड़ डालती हैं। उनका विचार है कि समाज और उसकी परंपराएँ उनके मन में निराशा और कुण्ठा उत्पन्न करती हैं। परिवार का विरोध झेलकर अपने पति या प्रेमी के निमंत्रण पर अमरीका पहुँच जाती है। लेकिन विदेशी परिवेश में अपने भारतीय संस्कारों के कारण विसंगतियों का सामना करती है। इसी पशोपेश में वे

अपने ढंग से अपनी राह खोजने को व्याकुल हैं। कहानियों में विवाहित नायिकाओं के जीवन में अमरीकी पुरुष प्रेमी का प्रवेश होता है, अमेरिकी समाज का आकर्षण और तौर तरीके से प्रभावित कहानी की नायिकाओं के भारतीय संस्कार उनके जीवन में अवरोध पैदा करते हैं।

अपने उपन्यासों में उषा प्रियवंदा ने आधुनिक शिक्षित नारी जीवन को स्वतंत्र विचारों को उभारा है। एक अजीब सी बेबसी और सामाजिक घिराव उपन्यास के पात्रों को किसी जीवंत संपर्क से जुड़ने नहीं देता। 'पचपन खम्भे लाल दीवारे' की नायिका अपनी आइडेन्टिटी को परिभाषित करने की कोशिश तो करती है लेकिन उसके जीवन में खोखलापन अनुभव से टकाराने और बिखरने से नहीं, अनुभव से कतरा जाने से उभरा है। 'रुकोगी नहीं राधिका' की नायिका अपनी आइडेन्टिटी को खोजने की अपने को भारतीय परिवेश के संदर्भ में पाने की तलाश में है। वैयक्तिकता के प्रति उपन्यास के नारी पात्रों को मोह उनके अकेलेपन को ताकत नहीं देता उन्हें विसंगत बना देता है।

परिवेश, अनुभव और भौतिकवादी नयी मानवीय दृष्टि से बदलते सामाजिक संबंधों को उन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से पहचाना है। यही वजह है कि उनकी कहानियों में परिवेश पात्र की तरह विद्यमान रहता है जो कथागत अनुभव को न केवल संवेदनीय बनाता है अपितु घटनाओं और पात्रों को आलोकित भी करता है। यही कहानी की रचना प्रक्रिया है। कैसे व्यक्ति अपनी भौतिक समृद्धि के लिए पारिवारिक और सामाजिक संबंधों को तोड़ता गया और नये प्रकार के मूल्यहीन संबंधों की निर्मिति करता गया। उषा प्रियवंदा की कहानियों में संबंधों की अभिव्यक्ति के साथ ही जीवन की विसंगतियों का वास्तविक साक्षात्कार कराया है। ऐतिहासिक स्तर पर जीवन में आने वाला यह बदलाव उषा प्रियवंदा की कहानियों को पर्याप्त संवेदनशील बनाता है।

उषा प्रियवंदा ने कहानियों को वर्णनात्मकता की अपेक्षा चित्रात्मकता से प्रस्तुत किया है। जहाँ प्रतीक भी सजीव हो उठे हैं। उनकी कथनशैली का तीखापन कहानी के पात्रों के प्रति न तो सहानुभूति जगता है न ही पाठक को आसुओं से भावविभोर करता है। उनकी कहानियों का ढाँचा और विषय वस्तु का ट्रीटमेंट अपने नये संदर्भ में अनुभूति की सच्चाई का प्रस्तुतिकरण करता है। उषा प्रियवंदा की कहानियों की यही सृजनात्मक विश्वसनीयता है।

वापसी

उषा प्रियवंदा की कहानी 'वापसी' पहली बार नई कहानियाँ अगस्त 1960 में प्रकाशित हुईं, तब लोगों का ध्यान इस ओर अधिक गया। इससे पहले भी उषा प्रियवंदा की कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं लेकिन कहानियों के मुकाबले इस एक कहानी 'वापस' का अधिक प्रभावित करना इस बात का संकेत है कि उसमें लेखिका ने तटस्थ भाव से यथार्थ को स्वीकारते हुए मानव-संबंधों को खोजा-रचा है। 'वापसी' कहानी में मानवीय संबंधों की आत्मीयता का आधार आज जीवन की बदलती परिस्थितियों में बदलती हुई वास्तविकता का रचनात्मक साक्षात्कार है लेखिका की सृष्टि मात्र नहीं उनकी अनुभूति की प्रामाणिकता का संदर्भ अधिक व्यापक और जीवन के अधिक करीब का है। इस दौर की कहानियों में स्वार्थपरता और निजता का बोध व्यापक और जीवन्त संदर्भ में जीवन की ताजगी को छूने लगा। परिवार में व्यक्ति की भूमिका किसी भावात्मक आधार पर नहीं, उपयोगिता के आधार पर निश्चित होने लगी। भौतिक समृद्धि के लिए पारिवारिक और सामाजिक संबंधों के बीच वृद्ध व्यक्ति को फालतू सामान माना जाने लगा।

यों तो प्रेमचन्द ने 'बूढ़ काकी' कहानी में काकी की दयनीय एवं मानवीय विवशता का ऐसा करुणाद्र दृश्य प्रस्तुत किया है जहाँ यथार्थ के नग्न रूप को देखकर पाठक का करुण भाव काकी के प्रति साहनुभूति जगाता है। लेकिन परिवर्तित परिस्थितियों में इधर के कहानीकारों की जीवन दृष्टि में अंतर देखा गया। संयुक्त परिवार की पारस्परिक स्नेह-सौहार्द्रपूर्ण स्थिति के बंधन को तोड़कर जीवन की भौतिक स्थिति को उजागर किया गया। परिवार

में वृद्धजनों का सम्मान भावुकता का नहीं शुद्ध उपयोगिता का मोहताज बना। माता-पिता एवं वृद्धजनों के प्रति नयी पीढ़ी का क्रमशः बदलता हुआ स्वर कहानियों में देखा गया। भीष्म साहनी की 'चीफ़ की दावत' और उषा प्रियंवदा की 'वापसी' इसी एटीट्यूट (Attitude) पर लिखी बहुचर्चित कहानियाँ हैं। इसके बाद नरेन्द्र कोहली की 'शटल' कहानी भी इसी दृष्टिकोण (Attitude) पर लिखी गई एक सशक्त कहानी है।

'चीफ़ की दावत' में शोमनाथ बूढ़ी माँ के लिए शर्म महसूस करता है वह उसे फटे कपड़ों की भाँति छिपा देने के प्रयत्न में माँ की ममता को भूल सा गया है। बेटे के लिए उसकी बूढ़ी माँ एक समस्या बन गई है। घर के फालतू सामान से भी बड़ी समस्या तो उषा प्रियंवदा की 'वापसी' में गजाधर बाबू रिटायर होकर जब घर लौटते हैं तो आर्थिक दृष्टिकोण से फालतू हो गए हैं। कहानी में एक रिटायर्ड व्यक्ति के अकेलेपन का पीड़ा-बोध है। यह पीड़ा-बोध अपने सामाजिक संदर्भ में अधिक व्यापक और गहरा बन पड़ा है।

पैंतीस वर्ष के लंबे अन्तराल तक रेलवे में नौकरी के बाद गजाधर बाबू सेवानिवृत्त होकर घर लौटते हैं। लेकिन परिवार से लंबी अनुपस्थिति उन्हें परिवार के ढाँचे से बाहर कर देती है। परिवार में आने की जिस सुखद जीवन की कल्पना उन्होंने की थी वही परिवार उन्हें एक अवांछित बोझ महसूस करता है। यहाँ बहुत बड़े पैमाने पर व्यक्ति संबंधों का विघटन हुआ है।

स्वभाव से बहुत स्नेही व्यक्ति गजाधर बाबू ने नौकरी के उन पैंतीस वर्षों को अपने परिवार के हित में अधिकांश समय स्टेशनों पर अकेले रहकर काटा था। उनका अकेले क्षणों में ही उन्होंने परिवार के साथ रहने की मधुर कल्पना की थी। उसी उत्साह से जब वह लौटकर आते हैं तो उस छोटे से घर में ऐसी व्यवस्था हो चुकी थी कि उसमें गजाधर बाबू के रहने का कोई स्थान न बचा था। 'जैसे किसी मेहमान के लिए कुछ अस्थायी प्रबंध कर दिया जाता है उसी प्रकार बैठक में कुर्सियों को दीवार से सटाकर बीच में गजाधर बाबू के लिए पतली सी चारपाई डाल दी गयी थी।' कहने भर को पत्नी के पास अंदर एक छोटा कमरा था जरूर पर वह भी घर के सामान से भरा रहता।

गजाधर बाबू परिवार के अपने ढंग से देखना चाहते हैं और परिवार है कि उनका कैसा भी दखल सहन नहीं करता। उनकी पत्नी बेटा, बहू बेटा सभी को लगता है बाबूजी हर चीज में दखल क्यों देते हैं। सभी उनके विचारों का खण्डन करते हैं और उन्हें अस्तित्वहीन कर देते हैं। अपने घर में गजाधर बाबू की क्या स्थिति है, उनकी 'चारपाई' जैसे उस स्थिति को स्पष्ट करती है। कुछ दिन तो वह चारपाई बैठक में पड़ी रही फिर एक दिन पत्नी के उसी छोटे से कमरे में डाल दी जाती है।

परिवार में एक ओर आर्थिक तंगी, लड़कों-बेटी और बहू का उपेक्षापूर्ण रवैया, उनके आदेशों और सुझावों के प्रति रुखापन, घर के खर्च को लेकर चिन्ता करते पति-पत्नी, उनके बीच अपने-अपने ढंग से जीने के इच्छुक बच्चे ऐसे में अमर के अलग रहने का प्रस्ताव, अपने ही परिवार में असंगत एवं विस्थापित जिन्दगी जीते गजाधर बाबू को इस बात का एहसास कराते हैं कि 'वह जिन्दगी द्वारा ठगे गए हैं। उन्होंने जो कुछ चाहा, उसमें से एक बूँद भी न मिली।' कहानी की संवेदना नये सामाजिक संदर्भ की उपज है। सामाजिक संबंधों में इतना परिवर्तन आ जाने से अब पुराने संबंध शिष्टाचार का निर्वाह मात्र बन गए। अचानक ही उनका यह निर्णय कि अब घर की किसी बात में दखल न देंगे। अपने ही घर में परदेशी की तरह पड़े रहेंगे। और उस दिन के बाद सचमुच गजाधर बाबू कुछ नहीं बोलें हताशा और विवशता से लिए गए अपने निर्णय को वह व्यवहार में लाते हैं। इस परिवर्तन को भले ही घर के अन्य लोग अनदेखा करें लेकिन उन्हें सबसे बड़ा गम यह था कि उनकी पत्नी ने भी उनमें कुछ परिवर्तन लक्ष्य नहीं किया। उनका अहं फिर चोट खाता है। उनका आहत अहं यह अनुभव करता है कि 'वह पत्नी और बच्चों के लिए केवल धनोपार्जन के निमित्त मात्र हैं।' उनकी पत्नी तक का उनके प्रति बदलता रवैया उन्हें

कहीं गहरे पीड़ा-बोध का एहसास देता है। यहीं प्रेमचन्द की 'सुजान भगत' कहानी को याद किया जा सकता है। वह सुजान भगत, जो अपनी मेहनत से इतनी बड़ी गृहस्थी जमाता है। बावजूद इसके अपने घर में अपनी पत्नी और बच्चों द्वारा उपेक्षित हो जाते हैं।

जिस व्यक्ति के अस्तित्व से पत्नी मांग में सिंदूर भरने की अधिकारिणी है। "उसके सामने वह दो वक्त भोजन की थाली रख देने से सारे कर्तव्यों से छुट्टी पा जाती है।" संबंधहीनता की स्थिति और व्यक्ति की आत्मपरकता की विवशता एवं मूल्यों के विघटन को दो पीढ़ियों के बीच व्याप्त अन्तराल को रूपायित किया है। अपने ही घर में उनका अस्तित्व उस परिवेश में असंगत लगने लगा है। ठीक 'वैसे ही जैसे सजी हुई बैठक में उनकी चारपाई थी। गजाधर बाबू की विडंबना यह है कि उनकी असंगत स्थिति एवं परिवार में अजनबी बनाने परिवार के अन्य सदस्यों के साथ ही उनकी पत्नी का भी योगदान है। पत्नी अपने बच्चों के साथ उस घर में इस हद तक स्वीकार्य हो चुकी है कि पति के प्रति उसकी उदासीनता गजाधर बाबू से सहन नहीं हो पाती। पत्नी से सर्वथा उपेक्षित भाव गजाधर बाबू को पलायन की ओर उन्मुख करता है। जहाँ किसी स्थिति के हठवश संघर्ष करने की अपेक्षा कुछ समय के लिए हट जाना ज्यादा समझदारी है।' (नामवर सिंह) कहानी के इस सत्य को गजाधर बाबू अधिक समझदारी से समझ चुके हैं। आत्मपरायेपन की स्थिति में वह एक नई नौकरी खोज लेते हैं। और अपना घर छोड़कर बाहर जाने का निर्णय करते हैं। गजाधर बाबू चाहते हैं कि उनकी पत्नी भी उसके साथ चले लेकिन उनके इस प्रस्ताव से पत्नी का सकपका जाना और यह कहना—“मैं चलींगी तो यहाँ का क्या होगा? इतनी बड़ी गृहस्थी फिर सयानी लड़की”—उन्हें गहरे में आहत करता है। पत्नी उस बड़ी गृहस्थी और स्वतन्त्र रुचि सन्तानों के साथ रहना पसन्द करती है, जिसकी प्रत्येक बात में नया मूल्य छया है। वह सर्वथा नयी मूल्य-चेतना की हो रहती है। नयी व्यवस्था और नयी मूल्यवत्ता में पुराने मूल्य अस्वीकृत और बहिष्कृत हो जाते हैं। अस्वीकृत और बहिष्कृत हो जाने की स्थिति को कहानी की अन्तिम अभिव्यक्ति और उजागर करती है—'अरे नरेन्द्र बाबू जी की चारपाई कमरे से निकाल दें। उसमें चलने तक की जगह नहीं' कहानी में आदमी की अंतरंगता का साक्षात्कार न कराकर आदमी के ही अनुपस्थित हो जाने का बोध कराती है।

कहानी में आदर्शवादी रुमानियत से यथार्थवाद की ओर अग्रसर होने का कठिन द्वन्द्व है। रूढ़ स्थितियों में यथार्थ जीवन-दृष्टि से कहानी का रूप-विन्यास गठित हुआ है। कहानी में जिस 'अकेलेपन' को चित्रित किया गया है तथापि वह बहुत व्यापक स्तर पर तो चित्रित नहीं हुआ तो भी वह एक सामाजिक चेतना का अंग है ही। क्योंकि यहाँ अकेलापन समाज से कटकर व्यक्ति का अकेलापन नहीं, समाज के बीज होने का अकेलापन है। इस रिटायर्ड आदमी का अकेलापन जैसे अपरिहार्य है—अकेलेपन से निकलना चाहते हुए भी वह फिर उसी अकेलेपन में वापस जाने के लिए लाचार है। (नामवर सिंह)

कहानी में परिवेश बोध के अनपातता की विकसित चेतना बहुत महत्त्व रखी है। इसकी सही पकड़ ने होने से कई प्रकार की भ्रांतियाँ जन्म लेती हैं। इस असंतुलित मानवीय संबंध, बिखराव और भटकन से अलग उस समय के कहानीकार को न तो दृष्टि ही मिल सकती थी और न दृश्य ही। परिणामतः उस समय के कहानीकार ने अपने चारों ओर फैले परिवेश की अभिव्यक्ति को माध्यम बनाया। उषा प्रियंवदा में हर घटना में कहानी ढूँढ लेने की क्षमता है। कोई कहानीकार हर घटना में कहानीपन पा जाए तो उसमें बहुत बड़ी संभावना के बीज समझने चाहिए। लेखिका अपने आस-पास के परिचित परिवेश में ही ऐसे सत्य को पाने का प्रयत्न करती है जो व्यापक सामाजिक सत्य का एक अंग है। यही सामाजिक सत्य गहरी मानवीय-संवेदना को चित्रित करता है। इसकी पुष्टि के लिए लेखिका का मत यहाँ प्रस्तुत करना संगत होगा—“कभी-कभी कोई दृश्य एक चेहरा या किसी का कहा गया वाक्य मेरी सृजनात्मक प्रक्रिया को ऐसे छू देता है कि एक कहानी अनायास अपने आप गुंथ जाती है।” (मेरी प्रिय कहानियाँ) उषा प्रियंवदा ने कहानी के रचना विधान में एक खास अर्थ में परिवेश का निर्माण किया जहाँ जीवन की अंतरंगता खुलती है। ऐसे

में पात्र अपने जीवन्त परिवेश की सारी बारीकियों के साथ चित्रित हुए हैं। कहानी का परिवेश छोटी-छोटी घटनाओं और विवरणों के माध्यम से पात्रों को अलोकित करता है। परिवेश जीवन्त पात्र की तरह उभरता है जो कहानी के कथ्य को संवेदनीय बनाता है। संबंध परिवर्तन की प्रक्रिया कहानी की अन्तर्वस्तु में निहित है। ऐसी स्थिति में पात्रों की निजता को एक नया व्यापक और अधिक जीवंत संदर्भ मिला। अतः कहानी में निजता को कलात्मक दायित्व के साथ प्रस्तुत किया गया है।

उषा प्रियंवदा की कहानियों के बारे में प्रचलित है कि उनकी कहानी के पात्र अकेलेपन की अनुभूति में ग्रस्त रहते हैं। घर-परिवार के सदस्यों के बीच बैठे हों या उनसे अलग पर वे अपने आप में अकेले ही होते हैं। कहानीकार की मानसिकता को यहाँ लक्षित किया जा सकता है—“मैं स्वयं एक बहुत ‘प्राइवेट परसन हूँ’ और गहरे मित्र बनाने में मुझे समय लगता है, शायद मेरे पात्रों के अकेलेपन में मेरी इस दृष्टि और प्रवृत्ति का प्रभाव लगता है। (मेरी प्रिय कहानियाँ) ‘सच’ कहानी का नायक (गजाधर बाबू) ने तो किसी का बन सका और न ही किसी को अपना बना सका। इस कहानी में संबंध की अपेक्षा संदर्भ सर्जनात्मक अर्थ को धारण करता है। यहाँ संबंध के टूटने का कोई प्रश्न ही नहीं है। वास्तव में कहानी के किसी पात्र में मूल्य-चेतना-संबंध चेतना है ही नहीं। परिणामतः सर्जनक्रिया का संबंध किसी पात्र में नहीं सिर्फ परिवेश से है। कहानी की मूल्य संवेदना आद्योपान्त कहानी में ही व्याप्त है। कहानी की संवेदना में परिवेश तटस्थ नहीं सक्रिय भूमिका निभाता है।

उषा प्रियंवदा की कहानियों को पढ़ते हुए लगता है कि उनकी कहानियाँ प्रत्यक्ष घटना और दृश्य पर आधारित है। ‘वापसी’ कहानी में गजाधर बाबू का घर में प्रवेश जिस चित्रात्मकता से प्रस्तुत किया गया है वह जैसे संपूर्ण स्थिति को स्पष्ट कर देता है। गजाधर बाबू जैसे ही घर में प्रवेश करते हैं उन्हें कहकहों की आवाज आती है। वह भी स्निग्ध मुस्कान लिए बिना खांसे अंदर चले गए। उन्हें देखकर सब सितपिटा जाते हैं—

“नरेन्द्र धप से बैठ गया और चाय का प्याला उठाकर मुंह से लगा लिया। बहू को होश आया तो झट से माथा ढक लिया केवल बसंती का शरीर रह रह कर हंसी दबाने के प्रयत्न में हिलता रहा।”

गजाधर बाबू ने चाहा था कि वह भी इस मनोविनोद में भाग लेते पर उनके आते ही जैसे सब कुंठित हो चुप हो जाते हैं; उससे उनके मन में थोड़ी सी खिन्नता का अनुभव हुआ। बैठते हुए बोले, ‘बसंती, चाय मुझे भी देना’, बसंती उन्हें चाय तो देती है लेकिन बिना चीनी की। इसी बीच में धीरे-धीरे सभी वहाँ चले जाते हैं। अकेले बैठ गजाधर बाबू पत्नी की प्रतीक्षा कर रहे हैं। पत्नी उन्हें देखकर जैसे चौंक उठती है—“अरे आप अकेले बैठे हैं?” कहानी में सिर्फ परिवेश है। उस परिवेश के लोग मात्र स्थितिजन्य संदर्भ। इसी संदर्भ में कहानी अपनी सर्जनात्मक शक्ति उपलब्ध कराती है।

‘चारपाई’ को एक ऐसे सांकेतिक चित्रात्मक धरातल पर कहानी में प्रस्तुत किया है जैसे वह उस घर में गजाधर बाबू की स्थिति का आभास कराती है। पहले चारपाई का बैठक में पड़ा रहना—“जैसे किसी मेहमान के लिए कुछ अस्थायी प्रबंध कर दिया जाता है।” फिर पत्नी के उस छोटे से कमरे में, जहाँ घर भर का पूरा सामान ढठमठस भरा पड़ा है और अन्त में उनके ‘वापस’ जाते समय बड़े व्यंजक तरीके से उनकी पत्नी का कहना-अरे नरेन्द्र बाबू जी की चारपाई कमरे से निकल दें—जैसे उनके अस्तित्व को ही नकार दिया जाता है। ये छोटे-छोटे संकेत स्थिति को उजागर करते हैं। सांकेतिकता कथाकार के व्यक्तिमन और परिवेश की बुनावट के साथ ही पात्रों की मनः स्थितियों की परतें भी खोलती है।

शिल्प

भाषा और शिल्प की व्यंजक योग्यता तो कहानी है लेकिन अर्न्तवस्तु के निर्माण में उनकी कहीं स्थिति के साथ सहयोगी भूमिका है। उदाहरण के लिए कहानी की अंतिम पंक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं—

“नरेन्द्र ने बड़ी तत्परता से बिस्तर बाँधा और रिक्शा बुला लाया, गजाधर बाबू की टीन का बक्स और पतला सा बिस्तर उस पर रख दिया गया। नाश्ते के लिए लड्डू और मठरी की डलिया हाथ में लिए गाजाधर बाबू रिक्शे पर बैठे गए। एक दृष्टि उन्होंने अपने परिवार पर डाली और फिर दूसरी ओर देखने लगे और रिक्शा चल पड़ा।”

उषा प्रियंवदा ने ‘वापसी’ कहानी में जिस व्यापक युग बोध की समस्याओं, संभावनाओं और आकांक्षाओं की मुखर अभिव्यक्ति की है वह उसे नई कहानी आंदोलन की प्रतिनिधि कहानी सीमा में ला खड़ा करती है।

‘वापसी’ कहानी से कुछ लोगों को शिकायत है कि उसका युगबोध पुराना है या कि यह भारतीय जीवन में अकेलापन थीम फिट नहीं होता आदि। इन सभी आरोपों के उत्तर में नामवर सिंह ने लिखा है—गजाधर बाबू का अकेलापन व्यापक है। जहाँ तक इस कहानी में सामाजिकता का प्रश्न है वह भी व्यापक है जो सबसे भीतर कहीं ने कहीं बना हुआ है। कहानी का मूल स्वर एकदम नया है जो कहानी की भाषा से भी सूचित हो सकता है।

‘परिन्दे’

(निर्मल वर्मा)

—डॉ. प्रमिला मलिक
खालसा कालिज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

निर्मल वर्मा ने ‘परिन्दे’ कहानी में निराश नारी की मनः स्थिति का चित्रण किया है। छोटे से पहाड़ी नगर में लतिका एक लड़कियों के स्कूल में होस्टल की संरक्षिका थी। पाँच वर्ष पूर्व कुमाऊँ रेजिमेन्ट के मेजर गिरीश नेगी से उसका परिचय तथा प्रणय-संबंध स्थापित हुआ था। किंतु उसकी असामायिक मृत्यु से वह संबंध छिन्न हो गया।

कथा वस्तु

स्कूल की छुट्टियों से पूर्व रात्रि को लड़कियों सुधा के कमरे में अन्तिम बार एकत्र हुई और हेमंती के गाने का प्रोग्राम बना। लड़कियों के लिए रात्रि-रजिस्टर पर दस्तखत करने के लिए अपना कमरा छोड़ना निषिद्ध था, और इस नियम का पालन कम, उल्लंघन ज्यादा होता था। लतिका होस्टल का निरीक्षण करती हुई लड़कियों की आवाज से आकृष्ट होकर उधर ही पहुँच गई, किन्तु लड़कियों को डांटने-डपटने के बदले, जूली को वापिस कमरे में जाने से पूर्व उसे मिलने को कहकर कमरे से बाहर आ गई। सीढ़ियों में ही उसकी भेंट ह्यूबर्ट और डॉक्टर मुकर्जी से हुई। ह्यूबर्ट स्कूल में संगीत-शिक्षक थे, और डॉक्टर मुकर्जी को हाइजीन फिजियोलोजी पढ़ाते थे। इसी नाते उन्हें होस्टल में कमरे मिले हुए थे। डाक्टर के कमरे में भी आज रात ह्यूबर्ट के ‘कान्सर्ट’ का कार्यक्रम था, और अपने व्यक्तिगत जीवन के विषय में बहुधा मौन ही रहता था। सुना गया था कि उसकी पत्नी की मृत्यु रास्ते में हो गई थी, जिसे वह अभी भी बहुत प्यार करता था।

ह्यूबर्ट लतिका के पूर्व प्रेम-संबंध के प्रति अनभिज्ञ था और स्वयं उसकी ओर आकृष्ट था, यहाँ तक कि उसने उसे एक प्रेम-पत्र भी लिखा था। उसके प्रेम को स्वीकार करने में असमर्थ होने पर भी लतिका को वह पत्र पाकर अच्छा लगा था, कि अभी भी वह किसी को आकृष्ट कर सकती है। उस रात कन्सर्ट में लतिका अधिक देर तक बैठ न सकी। पूर्व स्मृतियों ने उसे इतना आच्छादित कर दिया कि वह उठकर अपने कमरे में चली आई। गिरीश से वह सर्वप्रथम डाक्टर मुकर्जी के साथ मिली थी। उसके चले जाने के बाद डाक्टर ने ह्यूबर्ट को लतिका और गिरीश के प्रेम-संबंध का परिचय दिया, जिससे ह्यूबर्ट हतप्रभ रह गया। उसे ठेस लगी, लतिका उसे इस काबिल भी नहीं समझती कि अपने संबंधों का स्पष्टीकरण उसके सामने करने की परवाह करे।

अगले दिन स्कूल की चर्च में स्पेशल सर्विस थी। प्रत्येक वर्ष छुट्टियों से पूर्व यही प्रातः कार्यक्रम होता था। ह्यूबर्ट वहाँ पियानों बजाता था। और लतिका उसके स्वरों में डूबी अपनी पूर्व स्मृतियों में खो गई। डाक्टर अक्सर मजाक किया करता था कि फादर के समय स्कूल की प्रिन्सिपल मिस वुड झपकियाँ लेती रहती हैं। सर्विस समाप्त हुई, लतिका और ह्यूबर्ट बाहर निकले ह्यूबर्ट ने लतिका से अपने पत्र के लिए क्षमा मांगी, लतिका से कुछ जवाब नहीं बन पड़ा।

निर्मल वर्मा की कहानियों की भाषा शैली सहज, सपाट, अर्थोद्घाटक, सांकेतिक, व्यंजक एवं चित्रात्मक है। आधुनिक युग की त्रासद, भयावह, उबाऊ स्थितियों की व्यंजना के लिए जिस ढाँचाहीन भाषा की अपेक्षा है वह निर्मल वर्मा की कहानियों में है।

वातावरण चित्रण

प्रस्तुत कहानी में जिस विशिष्ट वातावरण को उरेहा गया है वह अनेक दृष्टियों से हमारी संवेदना को आन्दोलित करता है। यहाँ लेखक ने प्रेम-विवाह का अंकन और उसके प्रभावकारी तथा विनाशकारी परिणाम का यथार्थवादी चित्रण दिखलाया है। वैज्ञानिक जीवन की गहनतम् गुत्थियों में हम कितनी ही बार निरुपाय और विवश हो जाते हैं। बहुत बार हम वह नहीं हो पाते जो चाहते हैं। परिस्थितियाँ हम पर हावी हो जाती हैं और उनके समक्ष हम अपने बौनेपन को स्वीकार लेते हैं। किशोर और लीना में विश्वविद्यालय जीवन में जो रोमांस, उत्कट आकर्षण था वह वैवाहिक जीवन में कुछ महीनों बाद विकर्षण में बदल जाता है। वैवाहिक जीवन का यह यथार्थ दुर्बल भार, तनाव-खिंचाव अत्यन्त सशक्त होकर उभरता है। लीना और किशोर के अतिरिक्त इर्दगिर्द के टूटन, बिखराव और संत्रास को भी लेखक ने रूपायित कर दिखाया है।

उद्देश्य

“टूटना” आधुनिक बीसवीं शताब्दी में दाम्पत्य जीवन के बनते-बिगड़ते संबंधों की यथार्थ अभिव्यक्ति है। कुंठाग्रस्त महत्वाकांक्षी किशोर, ऊपरी वर्ग के संस्कारों में आबद्ध कमिश्नर दीक्षित और उन दुर्द्धर्ष शक्तियों के बीच पिसती-कराहती लीना को लेखक ने पूरी ईमानदारी के साथ उभारा है। जीवन की गहनतम गुत्थियों के आवारणों को अनावृत कर लेखक ने इंगित किया है कि हम बहुत बार वह नहीं हो पाते जो चाहते हैं। हम परिस्थितियों के समक्ष निरीह एवं अपाहिज हैं वे हमें अन्धड़ बन दूर उठा फेंकती हैं और हम उनके समक्ष अपने बौनेपन को स्वीकार लेते हैं।

“डाक्टर, क्या मृत्यु ऐसे ही आती है?” ये सभी प्रश्न प्रश्नकर्ता की मनःस्थिति का परिचय देते हैं, सभी पात्र अपनी-अपनी जिद में लगे हुए हैं, लतिका नेगी का याद से चिपकी हुई है, डाक्टर पत्नी के प्रति समर्पित है, ह्यूबर्ट लतिका को चाहता है और अपनी जिद के कारण वे जीवन के अन्य पक्षों के प्रति उदासीन हो गए हैं। मर कर भी व्यक्ति जीवित व्यक्तियों के मन को स्मृति द्वारा दबोचे हुए हैं सभी स्मृति रूप में जी रहे हैं।

सांकेतिकता से भरपूर इस शैली में इतिवृत्तात्मकता का अत्यंत अभाव है। परिन्दे में लेखक ने जहाँ-जहाँ विशेष दृश्यों को उभारा है, दुबारा वहाँ नाटकीयता का समावेश हो जाता है। प्रथम दृश्य लड़कियों के होस्टल में कारीडोर का है, तत्पश्चात् डाक्टर के कमरे का। दृश्य चेपल का है, जहाँ प्रेयरहाल में पियानों की स्वर लहरियाँ और फादर का सर्मन गूँज रहा है। इसी प्रकार मीडोज का दृश्य है, जो दो पहाड़ियों के बीच छोटे से घोंसले के समान लग रहा है, जहाँ डाक्टर और मिस वुड का वार्तालाप चल रहा है। फिर वहीं खुली प्रकृति का दृश्य, जहाँ लतिका और ह्यूबर्ट की, लतिका और जूली की, लतिका और डॉक्टर की बातचीत पर रोशनी डाली जाता है। लगता है ऐसे समय में स्टेज पर बाकी दृश्य अंधेरे में रह जाते हैं, सिर्फ किन्हीं विशेष दृश्यों को प्रकाशित कर दिया जाता है।

निर्मल वर्मा की अभिव्यंजना शैली बहुत सुन्दर है। उनके वर्णन अत्यंत सुन्दर हैं, सजीव हैं। ये वर्णन दृश्य जगत के हों चाहे मानसिक जगत के सर्वत्र, अत्यन्त प्रभावपूर्ण हैं, लाक्षणिकता, चित्रोपमता कुछ स्थलों पर विशेष रूप में स्पष्ट हैं। लतिका ह्यूबर्ट को अपनी मनःस्थिति का परिचय नहीं दे पाती क्योंकि वह उसकी निरीह, याचानापूर्ण दृष्टि को देखती है तो ‘उसे लगता है कि इस जाल से बाहर निकलने के लिए वह धागे के जिस सिर को पकड़ती है, वह खुद एक गांठ बनकर रह जाता है।’ लतिका गिरीश के चेहरे को स्मृति में लाना चाहती है, जो समय के साथ धुंधला गया है ‘जैसे किसी पुरानी तस्वीर के धूल भरे शीशे को साफ कर रही हो।’ ह्यूबर्ट चेपल से बाहर निकला तो उसकी आंखें चुंधिया गई लगा जैसे किसी ने अचानक ढेर सी चमकीली उबलती हुई रोशनी मुट्ठी में भरकर उसकी आंखों में झोंक दी हो।”

सारांशतः “परिन्दे” कहानी हिन्दी की अन्य कहानियों से कुछ हटकर है, जिसमें विशेष संवेदनापूर्ण स्थिति का चित्रण अत्यन्त सशक्त प्रभावोत्पादक शैली में किया गया है। इसका कोई तत्त्व अलग-अलग निगाह में नहीं आता है, मानों सब कुछ इससे उत्पन्न परिवेश से घुल गया है। अपनी इस अन्विति में यह विशेष प्रभाव उत्पन्न करती है जो पाठक के मन पर देर तक बना रहता है। इसकी संवेदनशीलता पाठक को सोचने पर मजबूर कर देती है। निराशा ही हाथ लगती है। यह जानते हुए भी कि उसका स्वास्थ्य दिन-ब-दिन गिरता जा रहा है, वह अपने आपको झुठलाता रहता है और शराब की मस्ती में अपनी निराशा का हल खोजता है।

डाक्टर मुकर्जी अपनी पत्नी और अपने देश को अत्यन्त प्रेम करता है, किन्तु दोनों ही उससे छुट गए हैं। पत्नी की मृत्यु हो गई है, फिर भी वह मिस वुड के प्रेमाभ्रमण को स्वीकार नहीं करता है। बर्मा उसका देश है, जिसे मजबूरी में उसे छोड़ना पड़ा है और भारत में वह अजनबी है। वह देश जाने के सपने पालता है, किन्तु जानता है कि वह भी असंभव है, क्योंकि अपने देश में ही इतने बरसों के बाद वह उतना ही अजनबी हो गया है, जितना भारत में है।

शिल्प

परिन्दे कहानी के शिल्प पर हिन्दी में पर्याप्त चर्चा हुई है। हिन्दी की अन्य कहानियों से यह पृथक है, और इसके लिए इसे अत्यन्त प्रशंसा और अत्यन्त आलोचना का पात्र बना पड़ा है। नामवरसिंह इसे नयी कहानी की विशेष उपलब्धि स्वीकार करते हैं, तो रमेश बक्षी इसे ‘शिल्प ही शिल्प’ कहते हैं।

कहानी में कथानक अत्यन्त अल्प है। अतीत की स्मृति में जाती हुई लतिका का चित्रण किया गया है, जो हर वर्ष की भांति इस वर्ष भी छुट्टी में कहीं अन्यत्र नहीं जा रही है। अतीत में डूबी रहने के कारण वह वर्तमान के ह्यूबर्ट के प्रेम को अस्वीकार कर देती है, और इस प्रकार भविष्य की आशाओं को भी समाप्त कर देती है। डॉक्टर इस छोटे से शहर में अपनी साधारण रोजी से संतुष्ट है, कहीं बड़े शहर में अपनी जड़ें नहीं जमाना चाहता है। ह्यूबर्ट का एक फेफड़ा पूरी तरह खराब हो चुका है, और वह मौत के कगार पर खड़ा है यहाँ कोई घटना है, तो यह कि लातिका जूली को उसका पत्र दे देती है, और ह्यूबर्ट को भयंकर दौरा पड़ता है। शेष सब कुछ यहाँ स्थिर है। ऐसे लगता है जैसे यहाँ कोई देश-काल नहीं है, एक वायवी संसार है, जो यथार्थ संसार से पृथक अपनी ही अलग सत्ता रखता है। लातिका डॉक्टर, ह्यूबर्ट आदि वास्तविक जीवन के किस धरातल पर हैं, इसका अनुमान मात्र किया जा सकता है। परिन्दों के प्रतीक द्वारा जिस स्थिर दशा की ओर संकेत किया है, वह पात्रों के माध्यम से आसपास के परिवेश में घुल मिल गई हैं पात्रों के आंतरिक जगत और बाह्य जगत में अक्सर कोई भेद नहीं रहता है, दोनों एकाकार हो जाते हैं। लतिका वातावरण में फैली धुंध को देखती है, ‘और यह धुंध बाहरी नहीं है, लतिका के मन में किसी भीतरी कोने की धुंध है।’

बाह्य और आंतरिक जगत के एकाकार हो जाने के अन्य संकेत भी कहानी में मिलते हैं। ह्यूबर्ट पियानों बजाता है और उसे लगता है, पियानों के सूरों का ‘गिरता हुआ हर ‘पाज’ एक छोटी सी मौत है, मानों घने छायादार वृक्षों की कांपती छायाओं में कोई पगडंडी गुम हो गई हो...’ मानो उसकी आसन्न मृत्यु की ओर संकेत किया जा रहा है। कहानी का प्रारंभ मानो लतिका की ओर संकेत कर रहा है, ‘अंधेरे कारीडोर में चलती हुई लतिका ठिठक गई। सीढ़ियों पर उसकी छाया एक बेडौल कटी-फटी आकृति मात्र रहा गया है। आसमान पर छाए हुए बादल उसकी मनःस्थिति को प्रकट करते हैं, ‘उसे लगा जैसे बादलों के झुरमुट फिर उसके मस्तिष्क पर धीरे-धीरे छाने लगा है। उसकी रंगें फिर निर्जीव, शिथिल सी हो गई है।’ ह्यूबर्ट पियानों बजाता है तो पियानों की स्वर लहरियाँ लतिका की विचार लहरियों में परिवर्तित हो जाती हैं, पियानों के सुर अतीत की धुंध को भेदते हुए स्वयं उस धुंध का भाग बनते जा रह हैं।’

प्रस्तुत कहानी में निर्मल वर्मा ने अनेक प्रश्न उठाए हैं, और अनेक संकेत दिये हैं। लतिका नेगी के बिना जीवित नहीं रहना चाहती है, और उसका प्रश्न है कि वह कौन सी शक्ति है जो हमें हमारी इच्छा के बावजूद खींचती चली जाती है? यह वास्तव में मनुष्य की प्रवृत्ति-प्रदत्त जिजीविषा शक्ति है, जो उसे हर हालत में जिए जाने पर मजबूर करती है। दूसरा प्रश्न है, यह जीवन प्रतीक्षा मात्र है? “क्या वे सब भी प्रतीक्षा कर रहे हैं—वह डॉक्टर मुकर्जी, हबर्ट! लेकिन कहाँ के लिए, हम कहाँ जाएंगे?” डाक्टर का पुत्र भी ऐसा ही है, “मैं कभी-कभी सोचता हूँ, इन्सान जिन्दा किस लिए रहता है। क्या उसे कोई और बेहतर काम करने को नहीं मिलता?” ह्यूबर्ट जीवन के बाद आने वाली मौत की बात उठाता है, पियानों की प्रत्येक स्वर लहरी अपने पीछे आने वाली स्वर-लहरी में खो जाती है, एक छोटी सी मौत जो आने वाले स्वर लहरी अपने पीछे आने वाली स्वर-लहरी में खो जाती है, एक छोटी सी मौत जो आने वाले सुरों को अपनी बची-खुची गुंजों की तानें समर्पित कर जाती है, जो मर जाती है, किन्तु मिट नहीं जाती।

सर्विस के बाद स्कूल की लड़कियों का पिकनिक का कार्यक्रम था। मिस बुड और डाक्टर एक और बैठ गए। बातचीत चल पड़ी और मिस बुड ने डाक्टर के भविष्य के प्रति चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा कि वह किसी बड़े शहर में प्रैक्टिस क्यों नहीं करता, जिसके उत्तर में डाक्टर का कथन था कि वह उस छोटे पहाड़ी कस्बे में संतुष्ट है, क्योंकि उसका कहीं भी अपनी जड़ें जमाने का विचार नहीं है। बातचीत करते हुए मिस बुड ने कॉफी प्याले में उंडेल कर डाक्टर को पीने के लिए कहा तो देखा, वह आराम से लेटा खुराटे ले रहा है।

दूसरी ओर लड़कियों अनेक झुण्डों में बिखर कर भांति-भांति के खेलों में लगी हुई थी। लंच के बादल लतिका ने जूली को बुलाया। उसने होस्टल में उड़ती हुई खबर सुनी थी कि जूली किसी मिलिटरी अफसर के साथ घूमते हुए दिखाई दी है, किन्तु उसने उस पर ध्यान नहीं दिया था। इस बार उसे कुमाऊँ रेजिमेंट सेंटर के मुहर लगे, लिफाफे, में जूली के नाम पर एक पत्र प्राप्त हुआ और उसने जूली से उसके विषय में पूछताछ की। जूली सिटपिटा गई, बोली उसके भाई की चिट्ठी है, वह झांसी में रहता है। लतिका ने उसे मुहर दिखाकर सच बात कहने को कहा। जूली चुप रह गई। लतिका ने लिफाफा अपने पास रख लिया।

पिकनिक से लौटते समय डाक्टर की बातचीत से लतिका को पता चला कि ह्यूबर्ट का स्वास्थ्य कुछ देर से बहुत खराब हो गया है, एक फेफड़ा काम करना बंद कर चुका है। तभी लतिका ने आकाश में परिन्दों के झुण्ड को देखा जो हर वर्ष मैदानों की ओर उड़ते हैं। रास्ते में बर्फ पड़ने की प्रतीक्षा में इस स्थान पर थोड़े समय के लिए रुककर फिर किसी अनजान दिशा की ओर उड़ जाते हैं। उसे लगा, वह ह्यूबर्ट, सब इन परिन्दों की भांति किसी प्रतीक्षा में है।

उसी रात ह्यूबर्ट की भीषण दौरा पडा। बार में शराब अधिक मात्रा में पीने के कारण उसकी यह दशा हुई थी। लतिका उसके कमरे से लौटी तो रास्ते में जूली के कमरे में प्रकाश देखकर भीतर चली गई। जूली सो रही थी, लैम्प बुझाना शायद भूल गई थी, लतिका ने उसकी चिट्ठी उसके तकिए के नीचे रख दी और स्वयं वापिस आ गई।

मूल संवेदना

परिन्दे प्रतीकात्मक कहानी है, जिसमें परिन्दों के माध्यम से मनुष्य जीवन की एक विशेष स्थिति की ओर संकेत किया गया है। परिन्दे बर्फ पड़ने की प्रतीक्षा स्टेशन पर बसेरा करते हैं, बर्फ पड़ने पर अपने गंतव्य की ओर उड़ जाते हैं। कहानी के पात्र भी परिन्दों की भांति प्रतीक्षा में है, और प्रतीक्षा की यही स्थिति इस कहानी के केन्द्र में है। परिन्दे दूर अनजानी दिशाओं की ओर जाते हैं, लतिका आदि पात्र भी भविष्य के प्रति निराश हैं, यानी जीवन के बाद मृत्यु की अनजानी दिशाओं की ओर की प्रतीक्षा में है। इसका मूल स्वर यही निराशा की भावनाएँ, जो इसके

परिवेश में से व्यक्त हो रही हैं। कथानक से इसका मूल स्वर ढूँढने की चेष्टा व्यर्थ है, क्योंकि कथानक नाममात्र का ही है। पात्रों की मनःस्थिति से यह स्वर स्पष्ट होता है।

स्कूल की लड़कियों स्कूल बन्द होने पर घर जाने की तैयारी में हैं, किन्तु लतिका इस वर्ष भी पिछले वर्ष की भांति होस्टल में ही छुट्टियाँ बिता रही है, यद्यपि होस्टल में छुट्टियाँ बिताना उसके लिए तकलीफदेह हैं। कमरे की छत से पानी टपकता है, और वर्षा की पूरी रात वह एक कोने में सिमट कर बिता देती है। सर्दी इतनी अधिक है कि बाथरूम के खुले रह गए दरवाजे से वह मिस वुड के आरामदेह कमरे में घुस कर समय बिताती है। यह उसकी मजबूरी है, क्योंकि उसके पास भविष्य नहीं है। गिरीश नेगी मानों उसका भविष्य अपने साथ ले गया है और वह रीती हो गई है। ह्यूबर्ट के प्रेमपत्र से उसे हल्की सी तसल्ली मिलती है कि वह अभी भी किसी को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ है, किन्तु वह जानती है कि बुढ़ापे की ओर अग्रसर हो रही है। उसके जीवन का एक उजाला पक्ष है कि उसे अपने प्रेम का प्रतिपादन मिला, अन्यथा वह भी मिस वुड की भांति शुष्क, अनुभूतिहीन बन जाती। इसका प्रमाण है वह पत्र जो उसने जूली को दे दिया, क्योंकि वह जानती है कि प्रेम की प्रथम अनुभूति कैसी होती है। ह्यूबर्ट जीवन के आखिर दौर पर पहुँच गया है। वह लतिका के प्रति आकृष्ट हुआ है, किन्तु वहाँ से उसे प्रेम नहीं।

